

प्रज्ञा प्रवाह

डॉ. मुरली मनोहर जोशी

सम्पादक

भानुप्रताप शुक्ल



भारत नीति प्रतिष्ठान
India Policy Foundation

प्रकाशक : भारत नीति प्रतिष्ठान
डी-51, हौज खास, नई दिल्ली-110016 (भारत)
दूरभाष : 011-26524018
फैक्स : 011-46089365
ई-मेल : indiapolicy@gmail.com
वेबसाइट : www.indiapolicyfoundation.org

पुनर्प्रकाशन : नवंबर, 2016

© लेखकाधीन

ISBN: 978-93-84835-13-2

मूल्य : ₹ 150 (एक सौ पचास रुपए)

मुद्रक : आर-टेक ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली

अनुक्रम

1. अष्टावक्र	5
2. नचिकेता	38
3. भारत में खगोलिकी	58
4. लिपि विधाता : गणेश	65
5. आचार्य नागार्जुन	80
6. प्राचीनतम कालगणना की आधुनिकता और वैज्ञानिकता	85
7. एक समाज देह का जीवन : डॉ. हेडगेवार	95
8. राष्ट्रीय भविष्य के स्वप्न-द्रष्टा डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी	107
9. पं. दीनदयालः व्यक्ति और विचार	113

अष्टावक्र

संस्कृति के उषाकाल में ही भारतीय मनीषा ने इस सत्य का साक्षात्कार कर लिया था कि ज्ञान का अव्यभिचारी रूप ही वरेण्य है। हमारे मंत्रद्रष्टाओं ने कहा था कि ज्ञानार्जन का अर्थ ही है सत्य की खोज और प्रदूषित ज्ञान को प्रश्रय देने से असत्य की प्रतिष्ठा होती है। उन्होंने यह भी समझ लिया था कि ज्ञान का उद्देश्य व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं का उपार्जन न होकर लोक-कल्याण होना चाहिए तथा आध्यात्मिक सम्पन्नता से रहित निरी भौतिक समृद्धि श्रेयस्कर नहीं हुआ करती। भारतीय मनीषी यह भी बखूबी जानते थे कि स्वाध्याय के बिना ज्ञानार्जन का कोई अन्य सरल उपाय नहीं है। इसीलिए संस्कृत वाङ्मय में इन स्थापनाओं को पुष्ट करने वाले अगणित प्रकरण बिखरे पड़े हैं। पूरा साहित्य पढ़ने की फुरसत इस उच्च तकनीकी के व्यस्ततापूर्ण युग में न ही मिले तो रामायण और महाभारत के अवलोकन से ही बहुत कुछ पता चल जायेगा। अगर इन ग्रंथों को मूल रूप से पढ़ने का समय न भी निकाल पाएं तो इनके संक्षिप्त संस्करण ही पढ़ लें। उससे भी यह जान लेंगे कि अष्टावक्र, कच, विश्वामित्र आदि ऐसे उदाहरण हैं जो भारतीय मनीषा की इन प्रवृत्तियों को पूरी तरह उजागर कर देते हैं।

कम्प्यूटर और संस्कृत

आप हंसेंगे मुझ पर, और कहेंगे—“यह कहां की बातें ले बैठा, उधर भारत का कम्प्यूटरीकरण हो रहा है और देश ‘इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने के लिए सारे सरंजाम इकट्ठे करने में बड़ी तेजी से जुटा हुआ है और यह ईसा से भी इक्कीस सदी पहले की बातें सुनाकर हमारा बेशकीमती वक्त बरबाद कर रहा है।” पर मेरे भाई, यह मैं कैसे समझाऊं कि बहुत से विद्वानों की राय यह बनती जा रही है कि बीसवीं सदी का कम्प्यूटर भले ही चाहे जिस भाषा में गिटपिट करे, पर इक्कीसवीं सदी वाला कम्प्यूटर तो शायद संस्कृत ही बोलेगा, क्योंकि भाषाविज्ञान के लिहाज से संस्कृत और कम्प्यूटर का मिजाज एक-जैसा ही है, और अगर कहीं सचमुच ऐसा हो ही गया तब तो आपके लिए संस्कृत साहित्य पढ़ना आवश्यक हो जायेगा और आवश्यक हो जायेगा उन सब उपाख्यानो को जानना-समझना भी जिन्हें आप दकियानूसी बकवास कहकर रद्दी की टोकरी के हवाले कर चुके हैं। तब तो अष्टावक्र जैसों की कथा का ज्ञान आपको महिमामंडित कर सकेगा!

आप कह सकते हैं, आखिर अष्टावक्र यानी आठ जगह से टेढ़े व्यक्ति को जानने-समझने के लिए उन तमाम ग्रंथों की क्या आवश्यकता है, जबकि आज अस्पतालों में टेढ़े-मेढ़े विकलांग बालक प्रतिदिन जन्म लेते हैं। उनमें से कुछ तो आठ क्या, अठारह जगह से टेढ़े-मेढ़े होते हैं। उनको देखकर क्या अष्टावक्र के बारे में अनुमान नहीं लगाया जा सकता? यह प्रश्न तो सरल है पर जटिल है इसका उत्तर! और जटिल है यह समझना कि विश्वभर में जन्म लेते ये विकलांग, विरूप, विकृत, बालक एक ऐसी आनुवंशिक विकृति के दुष्परिणाम हैं, जो उन पर बलपूर्वक लादी गई है। इससे भी कहीं जटिल है यह समझना कि यह विकृति, तकनीकी विकास पर आधारित एक समाजार्थिक व्यवस्था का अभिशाप है जो इन प्राणियों को जन्म से ही भोगना पड़ रहा है। इनकी चर्चा इस समय नहीं। यह तो उस प्रणाली के परिणाम हैं जिसमें

कुछ को स्वस्थ एवं सबल बनाए रखने के लिए बहुतों को जन्म से ही रोगी एवं दुर्बल रहने पर ही नहीं बल्कि विकलांग होकर जन्म लेने पर विवश कर दिया जाता है। प्रसंग आने पर करूंगा इनकी भी चर्चा, क्योंकि सारी दुनिया के अस्सी प्रतिशत लोगों को इस तरह हतभाग्य बनाने का अधिकार किसी को नहीं दिया जा सकता। भगवान को भी नहीं। पर मैं जिस अष्टावक्र की बात कर रहा था, उसका मामला इनसे कुछ भिन्न है।

महाभारत के वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थयात्रा पर्व के एक सौ बत्तीसवें अध्याय में जिस अष्टावक्र के जन्म की कथा है, मैं उसकी चर्चा कर रहा हूँ। इस वृत्तांत के अनुसार कहोड मुनि अपनी पत्नी सुजाता सहित अपने आश्रम में वेदों के अध्ययन एवं अध्यापन में लगे रहते। मुनि रात में स्वयं पढ़ते थे और दिन में शिष्यों को पढ़ाते थे। एक दिन जब वे अपने शिष्यों के साथ स्वाध्यायरत थे, तब उन्होंने सुना कि कोई कह रहा है—“सर्वा रात्रिमध्ययनं करोषि, नेदं पितः सम्यगिवोपवर्तते”—“पिताजी, आप रात भर वेदाध्ययन करते रहते हैं, तो भी इस समय आप ठीक-ठीक नहीं पढ़ा पा रहे हैं।” मुनि ने इधर-उधर देखा पर समझ में नहीं आया कि यह आवाज कहां से आयी। वे पुनः शिष्यों के साथ व्यस्त हो गए। थोड़ी ही देर में फिर वही आवाज सुनाई दी—“नेदं पितः सम्यगिवोपवर्तते”, “पिताजी, आप ठीक-ठीक नहीं पढ़ा रहे हैं।” स्वाभाविक था कि शिष्यों के सामने ऐसा आरोप सुनकर कहोड मुनि अपने को अपमानित अनुभव करते। वे दूढ़ने लगे कि कौन यह बात बार-बार कह रहा है? कौन यह दुस्साहस कर रहा है?

खोजते-खोजते पता चला कि उनकी पत्नी सुजाता के गर्भ में जो जीव है वही कह रहा है—“नेदं पितः सम्यगिवोपवर्तते।” अब एक विचित्र स्थिति थी। कहोड मुनि के शिष्यों की उपस्थिति में ही उनकी पत्नी की कोख में उन्हीं द्वारा स्थापित प्राणी गर्भ में ही बैठा-बैठा उनके ज्ञान को चुनौती दे रहा है। कह रहा है, “हे पिता, आप पढ़ाने में घोटाला

कर रहे हैं”, और यह कह रहा है कि “आपसे ही वेदादि शास्त्रों को सुनकर जो कुछ सीख पाया हूँ उसी के आधार पर कह रहा हूँ—‘नेदं पितः सम्यगिवोपवर्तते’। चाहिए तो यह था कि कहोड मुनि प्रसन्न होते कि कुछ दिनों बाद उन्हीं के यहां जन्म लेने वाला गर्भस्थ प्राणी इतना विद्वान है कि मां के पेट से ही अपने पिता के अध्यापन की त्रुटियां बता रहा है। वह इतना तेजस्वी है कि बिना डरे हुए पिताश्री की गलतियां बता रहा है। वस्तुतः कहोड मुनि जैसे वेदाध्यायी से अपेक्षा तो यह थी कि वे इस जीव को आशीर्वाद देते और अपनी गलती सुधार लेते, पर उन्हें तो इस घटना में अपना घोर अपमान झलक रहा था। सोचने लगे, गर्भ में बैठे हुए इस पिढ़ी की इतनी मजाल कि श्वेतकेतु के बहनोई, उद्दालक के जमाता कहोड मुनि के वेदपाठ में दोष निकाल रहा है। बोले, “अरे, तू मां के पेट से ही इतनी टेढ़ी बातें बोलता है, अपने पिता को उसके शिष्यों के सम्मुख अपमानित करता है, जा, तू आठ जगहों से टेढ़ा हो जा—‘तस्माद् वक्रो भवितास्यष्ट कृत्वः’—महाभारतकार कहता है, और फिर महर्षि अष्टावक्र आठ अंगों से टेढ़े होकर ही जन्मे—“सर्वे तथा वक्र एवाभ्यजायदष्टावक्रः प्रथितो वै महर्षिः।”

पुत्रों द्वारा अपने पिताओं की अनीति और अन्याय के विरुद्ध किए गए संघर्षों के उदाहरण तो बहुत से मिलेंगे, और ऐसे प्रसंग भी पर्याप्त मात्रा में मिलेंगे जब शिष्यों ने गुरुओं को पराजित किया हो, पर ऐसा अद्भुत उदाहरण तो अष्टावक्र के उपाख्यान के अतिरिक्त अन्यत्र मिलना दुर्लभ है जहां मां के पेट से ही किसी ने अपने पिता को टोका हो—“नेदं पितः सम्यगिवोपवर्तते”—“पिताजी, ठीक-ठीक पढ़ाइए। ज्ञान के मामले में घपला मत कीजिए। ज्ञानगंगा को दूषित करने की चेष्टा मत कीजिए।” ज्ञान की परम्परा को निर्मल एवं पारदर्शी बनाए रखने की प्रतिबद्धता का बेजोड़ उदाहरण यह नहीं है तो और कौन-सा है? वाग्देवी सरस्वती के स्फटिक स्वच्छ प्रवाह में प्रदूषण का किंचित स्पर्श भी गर्भस्थ अष्टावक्र को सहन नहीं हुआ। पीड़ा से तिलमिला उठा वह

यह देखकर कि उसके पिता द्वारा विद्या के साथ व्यभिचार किया जा रहा है। ऐसी छटपटाहट हुई उसे, विधिवत् जन्म लेने की भी प्रतीक्षा नहीं की उसने और बोल पड़ा मां के पेट से—“यह ठीक नहीं है, नेदं पितः सम्यगिवोपवर्तते।” पर इसका पुरस्कार क्या मिला उसे? यही न, “तस्माद् वक्रो भवितास्यष्ट कृत्वः”—जा, तू आठ जगहों से टेढ़ा-मेढ़ा होकर विकलांगता को प्राप्त हो।

तुम धन्य हो, अष्टावक्र! आओ, तुम्हें प्रणाम करें। तुमने हमें बताया कि ज्ञानामृत में विकृति का विष मत घोलने दो किसी को भी, चाहे वह तुम्हारे पिता ही क्यों न हों! अगर वह ऐसा करता है, तब तुम चुप मत रहो। तुमने स्थापित किया अष्टावक्र कि ज्ञान-भ्रष्टता से मानसिक विकलांगता उपजती है, जो शारीरिक विकलांगता की तुलना में कहीं अधिक घातक है। और तुमने अपने आचरण से यह भी सिद्ध कर दिखाया था कि भारतीय भूमि पर जन्म लेने के लिए प्रतीक्षारत भ्रूण भी मानसिक विकलांगता को बेहिचक अस्वीकार कर देता है, फिर चाहे जितना कष्ट इस मार्ग में उसे उठाना पड़े। अष्टावक्र, जब तुमने अपने पिता को टोका था, तब तुम यही तो कह रहे थे कि दूषित ज्ञान को स्वीकार करने का अर्थ सत्य के स्थान पर असत्य की प्रतिष्ठा करना होता है। उससे बुद्धिभ्रम, दृष्टिभ्रम, दिशाभ्रम—सभी कुछ उत्पन्न हो जाते हैं। तुमने सावधान किया था इन्हीं विविध भ्रमों के संकट से क्योंकि इनकी परिणति तो सर्वनाश के सिवा और किसी में होती नहीं। तुम यह भी बताना चाह रहे थे कि ज्ञान के क्षेत्र में कोई बात सिर्फ इसीलिए ठीक नहीं मानी जा सकती क्योंकि कोई बड़ा आदमी उसे कह रहा है। तुम रूढ़िवादिता, कठमुल्लापन, मतान्धता के विरुद्ध मां के गर्भ से ही बोले थे, अष्टावक्र! मानसिक दासता लादने की प्रक्रिया के विरुद्ध तुमने सशक्त विद्रोह का स्वर मुखरित किया था, अष्टावक्र और चेष्टा की थी स्वतंत्र, निर्भीक चिंतन के महत्व को समझाने की।

बात यहीं समाप्त नहीं होती। अभी तो इस उपाख्यान का एक ही

अंश बताया है मैंने। अष्टावक्र का चरित्र इतना संक्षिप्त नहीं है। पूरे विस्तार में तो जाना सम्भव नहीं, किन्तु थोड़ा और लिखे बिना तो उस महर्षि के साथ न्याय नहीं हो पायेगा। पिता के शाप को स्वीकार करके अष्टावक्र ने एक टेढ़े-मेढ़े शिशु के रूप में जन्म ले लिया। परन्तु उनके जन्म लेने के पूर्व ही उनके पिता राजा जनक की सभा में पंडितों से शास्त्रार्थ में हारने के परिणामस्वरूप जल में डुबो दिए गए थे, अतः शिशु अष्टावक्र ने जन्म के बाद अपने पिता को नहीं देखा था। कालांतर में जब वे कुछ बड़े हुए तब उन्हें पता चला कि धन-प्राप्ति की इच्छा से कहोड मुनि जनक के दरबार में गए थे जहां बन्दी नामक पंडित ने यह शर्त रखी थी कि शास्त्रार्थ के बाद जो हारेगा उसे जल में डुबो दिया जाएगा। अनेक पंडित उससे हार गए थे और उन्हें जल-समाधि दे दी गई थी। कहोड मुनि भी उन्हीं में से एक थे। अष्टावक्र ने निश्चय किया कि वे अपने पिता की पराजय का बदला लेंगे। उन्होंने यह नहीं कहा कि “अच्छा हुआ मर गया, अपने किए का फल पा गया, वह बाप कहलाने लायक था भी नहीं। जो अपने पुत्र के जन्म के पूर्व ही उसे विकलांग होने का शाप दे दे, ऐसे निर्दयी को पिता क्यों माना जाये?” आजकल का कोई ‘जीनियस’ होता तो जनक के दरबारी पंडित को टेलेक्स भेजता और कहता, “वेल डन, दि रैस्कल डिजर्व्ड इट” (अच्छा किया, वह शैतान कहोड इसी काबिल था); पर बालक अष्टावक्र के जीवन-मूल्य इससे भिन्न थे, अतः उसने पिता के अपमान का हिसाब चुकता करने का ही विचार किया।

जनक के दरबार में जाने का निर्णय तो कर लिया, परन्तु वहां पहुंचे कैसे? विरूप शरीर, छोटी वय, कौन जाने देगा पंडितों से भरी उस सभा में! जनक जैसे राजा की सभा कोई मामूली जगह तो है नहीं। लेकिन दृढ़निश्चयी अष्टावक्र जा ही तो पहुंचे वहां। द्वारपाल रोकते रह गए, पर उनके तेज से हतप्रभ होते चले गए और अन्ततोगत्वा जनक से उनका साक्षात्कार हो ही गया। राजा जनक ने अष्टावक्र का अभिप्राय

सुनकर उन्हें बहुत समझाया कि बन्दी से शास्त्रार्थ करना वृथा है, उसे अभी तक कोई हरा नहीं सका है। किन्तु अष्टावक्र ने उत्तर दिया, “यह सब वृत्तांत जानकर ही तो यहां आया हूं। मैं यहां ‘अद्वैत ब्रह्म’ की चर्चा करने आया हूं—ब्रह्माद्वैतं कथयितुमागतोऽस्मि। बुलाइए उन पंडितराज बन्दी को, आज मैं उनकी बोलती बंद कर दूंगा। उनसे मिलकर उनका तेज उसी तरह हरण कर लूंगा जैसे सूर्य तारामंडल को निष्प्रभ कर देता है।” यह सुनकर जनक ने सोचा कि यह बालक तो बड़ा अभिमानी प्रतीत होता है। तब उन्होंने स्वयं अष्टावक्र की परीक्षा ली और जान लिया कि शरीर से टेढ़ा-मेढ़ा यह बालक तो विद्वता की खान है और उन्हें कहना पड़ा—“न ते तुल्यो विद्यते वाक्प्रलापे, तस्माद् द्वारं वितराम्येव बन्दी”—वाद-विवाद करने में आपके तुल्य कोई नहीं है, अतः आपको मंडप में जाने के लिए द्वार देता हूं। जाइए, बन्दी से मिलिए।” और अष्टावक्र का बन्दी से शास्त्रार्थ निश्चित हो गया।

कहते हैं कि जब अष्टावक्र ने पंडितों की उस सभा में प्रवेश किया तब उनके शरीर की कुरूपता को देखकर वे सब हंसने लगे। इस पर अष्टावक्र ने जनक से कहा, “महाराज! मैं तो पंडितों से अद्वैत ब्रह्म की चर्चा करने आया था, पर यह सब तो मात्र चर्मान्वेषी हैं। इन्हें केवल चमड़े की पहचान है। उसके आगे इन्हें कुछ पता नहीं है, तभी तो यह महानुभाव मेरी चमड़ी देखकर हंस रहे हैं। महाराज जनक, आपके दरबार में यदि पंडित हों तो उन्हें बुलाइए, इन चमड़े के सौदागारों से क्या शास्त्रार्थ करूं?” सब सन्न रह गए, बालक अष्टावक्र से यह कटु सत्य सुनकर। भान करा दिया उस काली चमड़ी वाले लूले-लंगड़े बालक ने कि मनुष्य केवल शरीर ही नहीं है, बाहरी शरीर को देखकर किसी को तिरस्कृत मत करो और यह भी समझा दिया उसने उन ज्ञानोन्मत्त पंडितों को कि इस शरीर को धारण करने वाला ‘आत्मा’ सबमें एक-जैसा है। शास्त्रार्थ हुआ और चकित रह गए सारे पंडित, जब अष्टावक्र ने उन सभी को पराजित कर दिया, पंडितराज बन्दी को

भी! हां, उस दिन जनक के यज्ञ-मंडप में उस बन्दी ने, जिसने अगणित विद्वानों को पराजित कर जल में डुबो दिया था अष्टावक्र से हार मान ली। और फिर अष्टावक्र ने राजा जनक से कहा, “महाराज! आज तक इस बन्दी ने बहुत से विद्वानों को पराजित करके जल-समाधि दी है, अब इसकी बारी है—“अप्सु निमज्जयेनम्-इसे जल में डुबो दीजिए।”

जनक के सामने और कोई चारा नहीं था। बोले, “हां, लो, यह है बन्दी। अष्टावक्र! तुम्हारा इस पर पूर्ण अधिकार है, जो चाहे सो करो।” बन्दी ने कहा, “मुझे जल में डूबने का कोई भय नहीं, क्योंकि मैं तो वरुण का पुत्र हूं और अपने पिता के राज्य में हो रहे यज्ञ के लिए यहां से विद्वान पंडितों को भेज रहा था। शास्त्रार्थ में पराजित करना और जल में डुबो देना तो एक बहाना मात्र था। विद्वानों को वहां भेजने का। अब मेरे पिता का यज्ञ समाप्ति पर है, सभी ऋषि-मुनि वहां से लौट रहे हैं। अष्टावक्र! वह देखो, बहुत दिनों से गायब तुम्हारे पिता कहोड मुनि इसी समय लौट रहे हैं।” तब न केवल कहोड मुनि बल्कि वे सभी विद्वान जिन्हें बन्दी द्वारा जल में डुबोकर वरुण लोक भेजा गया था, वापस लौट आए। उन सभी ने अष्टावक्र की पूजा की, और जिस पिता ने उन्हें शाप दिया था, उसी ने कहा, “हे पुत्र, तुमने मेरा ही नहीं, इन सबका उद्धार किया है। मुझे क्षमा करो। चलो, समंगा नदी में स्नान कर लो; तुम्हारे अंग-प्रत्यंग ठीक हो जाएंगे।” वेदव्यास जी ने यही लिखा है कि उसके बाद अष्टावक्र के सभी अंग सीधे हो गए, उनकी विकलांगता नष्ट हो गई।

तो ऐसा था अष्टावक्र! निर्भीक, तेजस्वी, सत्यचेता एवं ब्रह्मवेत्ता, विद्या और विनय से मंडित, शास्त्रों का पंडित, निष्कलुष एवं निर्मल ज्ञान का आराधक तथा जीवन-मूल्यों का साधक। विकलांगता का अभिशाप लेकर आया था पृथ्वी पर, किन्तु लौटा समांगता का वरदान बनकर। कहा था उसने, “ज्ञान की पीयूषधारा पारदर्शी रहेगी, स्वच्छ रहेगी, उसे गंदला करने का अधिकार किसी को नहीं। मिथ्या ज्ञान का

प्रसार मैं किसी को नहीं करने दूंगा। अपने पिता को भी नहीं।” कितना कुछ सहन किया था उस तपस्वी ने! पर, कैसा वज्र संकल्पवान था अष्टावक्र! विकलांगता जैसी घोर यंत्रणा भी उसे हतोत्साहित कर नहीं पायी थी। और चुनौती दी थी फक्कड़ अष्टावक्र ने अपार सम्पदा के स्वामी वरुण के पुत्र को। कहा था, “लौटाओ मेरे देश के उस पांडित्य को, जिसे तुमने अपने पिता की सेवा में भेज दिया है, अन्यथा तैयार हो जाओ डूब मरने के लिए। राष्ट्र की मेधा पराधीन हो जाए; प्रतिभा पलायन कर जाए, और वह भी मेरे रहते, असंभव!” कौन सुनाएगा मेरे देशवासियों को अष्टावक्र का यह पावन चरित्र? कैसे जानेंगे आज के छात्र इस उपाख्यान को? नयी शिक्षा नीति में तो इस सबका उल्लेख भी कहीं नहीं है। उसके लेखकों को तो शायद हर जिले में एक दून स्कूल खोलकर पश्चिम के उच्छिष्ट को प्रसाद बनाकर बांटने से ही फुरसत नहीं है।

मैं जब-जब अष्टावक्र का उपाख्यान पढ़ता हूँ, तब-तब मेरे मस्तिष्क में यह विचार कौंध उठता है कि स्थापित सत्ताओं की प्रकृति में आज तक कोई परिवर्तन दिखायी नहीं दिया है। वे अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए ज्ञान के प्रसाद के समस्त अभिकरणों को अपनी मुट्ठी में रखना चाहती हैं और यहां तक कि वे ज्ञान के साथ बलात्कार करने में भी नहीं हिचकतीं। और अगर कोई इस षड्यंत्र को पहचान कर विरोध का स्वर मुखरित करते हुए कहता है-‘नेदं सम्यगिवोपर्वत’-यह ठीक नहीं है, तब उसके लिए उत्तर है-‘तस्माद् वक्रो भवितास्यष्ट कृत्वः’-जाओ, विकलांग बनकर घिसटते रहो। जो लोग व्यवस्थाओं पर अधिकार जमाए बैठे हैं, वे कहते हैं, “या तो सुविधाभोगी बनकर वही सीखो, जो हम पढ़ा रहे हैं, या फिर विरूप, विकलांग बनकर भीख मांगो!” कैसे समझाऊं अपने देश के बुद्धिजीवियों को आजकल का यह गोरखधंधा कि जिसमें बहुत से लोगों को स्वस्थ एवं सामान्य शरीर धारण करने की कीमत मानसिक विकलांगता स्वीकार करके चुकानी

पड़ती है। कभी-कभी तो मनुष्य का शरीर और मन दोनों ही असहाय बना दिये जाते हैं। और सबसे अधिक आश्चर्य तो यह है कि वह सबकुछ होता है ज्ञान और विज्ञान की आड़ में आधुनिकीकरण के नाम पर।

सुकरात एवं ईसा की कहानी तो सब जानते हैं, दोहराने से क्या फायदा! पर गैलीलियो के बारे में शायद कुछ लिखना जरूरी है। गैलीलियो गैलिली सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में एक इतालवी खगोलशास्त्री था। वह यूरोप का प्रथम वैज्ञानिक था जिसने टेलिस्कोप का प्रयोग ग्रह-नक्षत्रों के अध्ययन के लिए किया था। गैलीलियो के जन्म से इक्कीस वर्ष पूर्व पोलैंड के खगोलविद् मिकोलाई कोपरनीक, जिनका लैटिन उच्चारण निकोलस कोपरनिकस अधिक लोकप्रिय है, का एक ग्रंथ प्रकाशित हुआ था, जिसमें किसी यूरोपीय विद्वान ने सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया था कि पृथ्वी आदि ग्रह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हैं। स्पष्ट ही यह अभिमत बाइबिल के विरुद्ध था। पर यह ग्रंथ लिखा गया था लैटिन भाषा में और उन दिनों अधिकांश कैथोलिक लैटिन नहीं पढ़ा करते थे, अतः काफी दिनों तक इस ग्रंथ की ओर उनका ध्यान नहीं गया। लेकिन जब मार्टिन लूथर के कैथोलिक अनुयायियों ने इस ग्रंथ का प्रबल विरोध करना शुरू किया तब चर्च ने इस पुस्तक को धर्म-विरोधी निषिद्ध साहित्य बताकर प्रतिबंधित कर दिया। गैलीलियो ने जब टेलिस्कोप की सहायता से ग्रहों की गति का सूक्ष्म अध्ययन किया तो उसने कोपरनिकस का समर्थन कर दिया। उन दिनों यूरोप के अनेक देशों में चर्च ही स्थापित व्यवस्था का सर्वोच्च प्रतीक था। वही राजा था, वही धर्म था, वही ज्ञान था, वही विज्ञान था, वही गुरु था और वही था शिक्षक। उसकी स्थापनाओं में दोष-दर्शन कैसे सहन किया जा सकता था? अष्टावक्र की ही भांति गैलीलियो ने भी कहा था, “चर्च द्वारा पढ़ाया जा रहा खगोल ठीक नहीं है-‘नेदं सम्यगिवोपवर्तते’ और चर्च ने उसे अपराधी घोषित कर दिया। चर्च ने

बीमार गैलीलियो को चेतावनी दी-“अपनी स्थापनाएं वापस लो, उनकी स्वयं ही निंदा करो या फिर अपाहिज बनने को तैयार हो जाओ”। इतिहास साक्षी है कि सत्यशोधक वैज्ञानिक गैलीलियो को घर में ही नजरबंद रखकर विकलांगता भोगने को विवश किया था चर्च ने।

सत्य और ज्ञान का गला घोटने की यह गाथा गैलीलियो पर ही समाप्त नहीं होती। सत्ता के उच्चतम सोपान के अधिष्ठाता अपने अस्तित्व के औचित्य को सिद्ध करने के लिए प्रायः असत्य को सत्य और अज्ञान को ही ज्ञान के रूप में प्रचारित करते पाए गए हैं। जब कोई उनके पाखंड को भांप लेता है तब पहले तो उसे सुविधाएं देकर लुभाने की और अगर वह अपनी हठ न छोड़े तो उसे अपंग बनाने का भय दिखाकर रास्ते पर लाने की कोशिश करते आ रहे हैं ये लोग। दुनिया ने क्रांति की वेगवती धाराओं द्वारा निहित स्वार्थों की नींव पर खड़े कई राजमहल ध्वस्त होते देखे हैं और देखे हैं बहुतेरे क्रांतिवीर, जो उन्हीं धाराओं की उत्ताल तरंगों के शीर्ष पर आरूढ़ होकर सत्ता के शिखरपीठ पर आसीन हुए और फिर नयी व्यवस्था के लिए निहित स्वार्थों के बंदी बनकर रह गए। इसी इतिहास-बोध को मुखरित करने वाले मिलोविन जिलास को वर्षों तक जेल में सड़ते भी हमने देखा है और अनुभव किया है बोरिस पास्तरनाक की पीड़ा को, समझा है सोल्झेनित्सिन की वेदना को और सखारोव दम्पति द्वारा भोगी जा रही यातनाओं को। सुनेंगे आप सखारोव दम्पति द्वारा भोगी जा रही यातनाओं को। सुनेंगे आप सखारोव और उसकी पत्नी की यंत्रणा? भौतिकी के अनुसंधानों के लिए नोबेल पुरस्कार प्राप्त रूसी वैज्ञानिक आंद्रे सखारोव और उसकी पत्नी को वर्षों तक नजरबंद रखा गया। सखारोव को पुरस्कार लेने भी रूस के बाहर नहीं जाने दिया गया, और उसकी पत्नी को प्राणघातक, गंभीर हृदयरोग के होते हुए भी, इच्छानुसार इलाज की भी इजाजत नहीं दी गई। दोनों को सदा पुलिस के पहरे में फ्लैट में बंद रखा गया। बाहरी दुनिया से सम्पर्क की कोई अनुमति नहीं, कोई चिट्ठी भी नहीं, अखबार भी नहीं।

बस पड़े रहो बर्फ से ढंके उस एकान्त कस्बे में। बनाकर रख दिया न अपाहिज, क्योंकि सखारोव अष्टावक्र की ही भांति यह कहने का साहस कर सके थे—“नेदं सम्यगिवोपवर्तते”—वे कर चुके थे रूसी नीतियों की खुलकर आलोचना। निःशस्त्रीकरण और नाभिकीय शस्त्रों संबंधी रूसी नीतियों की निष्पक्ष समीक्षा। विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की मांग की थी सखारोव ने, बदले में मिला उन्हें एकान्तबंदीवास।

हमने उन व्यवस्थाओं को भी देखा है जो दुनिया में मानव अधिकारों और जनतंत्र की दुहाई देते नहीं थकतीं, पर अपने घर में करोड़ों काली वाली चमड़ी वालों को नारकीय जीवन व्यतीत करवाने में तनिक भी नहीं सकुचातीं। और न ही कोई शर्म आती है उन्हें दुनिया के बर्बर तानाशाहों का खुलेआम समर्थन करने में। जानते नहीं क्या कि अमेरिका में नीग्रो लोगों के साथ क्या बर्ताव होता है, और दक्षिण अफ्रीका में इंग्लैंड क्या करवा रहा है? नेल्सन मंडेला ने भी तो यही कहा था कि “ये गोरी चमड़ी वाले आदमी को आदमी नहीं समझते, उसे दुत्कारते हैं। ये चमड़े के सौदागर हैं। मैं इनसे बहस करने को तैयार हूँ और इन्हें इंसानियत का पाठ पढ़ाने को भी तैयार हूँ। (अष्टावक्र की भांति) मैं इन्हें पराजित कर दूंगा।” किन्तु न्यस्त स्वार्थी व्यवस्था के भयभीत, कापुरुष पक्षधरों में सत्य का तेज सहन करने की शक्ति कहाँ? उन्होंने तो मंडेला को जेल में ठूस दिया। अमेरिका वियतनाम में और अल साल्वाडोर में किन मानव-अधिकारों का संरक्षण करता रहा और रूस ने हंगरी, चैकोस्लोवाकिया, पोलैंड और अफगानिस्तान में किस शोषण के विरोध में टैंक और फौजें भेजीं? इंग्लैंड ने फाकलैंड द्वीप में क्या किया और आयरलैंड में चलता आ रहा संघर्ष किस बात का द्योतक है? केवल एक बात का, और वह यह है कि निहित स्वार्थी व्यवस्था छल, बल और कौशल से झूठ को सच और अज्ञान को ज्ञान बताना चाह रही है। और जो कोई उनको टोकता है, सच बोलने का साहस दिखाना चाहता है, उसे अपाहिज बना दिया जाता है। आदमी

ही नहीं, देश, देशों का इतिहास, भूगोल, राष्ट्रों का जीवन सबकुछ टेढ़ा-मेढ़ा कर दिया जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चल रहे इस प्रपंच के दुष्चक्र में हमारा देश भी फंसाया जा रहा है। ऐसा नहीं है कि पहली बार ही विदेशियों की गृद्ध दृष्टि भारत पर पड़ी है। सच तो यह है कि ईसा की कई शताब्दी पूर्व से इस देश पर जो आक्रमण प्रारंभ हुए वे आज तक कभी बंद नहीं हुए। भारत की भौतिक सम्पन्नता, आध्यात्मिक समृद्धि, नैसर्गिक सुन्दरता, विशाल एवं अत्याधिक उर्वर भूमिखंड, अद्वितीय ऋतुचक्र और यहां प्रस्फुटित ऋतंभरा प्रज्ञा ने अनेक साम्राज्य-पिपासुओं को विधाता की सृष्टि के इस अनुपम रत्न पर अधिकार करने के लिए ललचाया है। पारसी, यूनानी, शक, हूण, कुषाण, तुर्क, मंगोल, अफगान, मुगल, डच, पुर्तगाली, फ्रांसीसी-अंग्रेज सभी ने तो यहां अपने उपनिवेश बनाने का यत्न किया है।

पिछले दो-तीन हजार वर्षों का इतिहास साक्षी है कि कैसे भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर दुर्दान्त, दिग्विजयी आक्रांता आए और कैसे वे लौटा दिए गए। कैसे सिंध, पंजाब एवं कश्मीर में अड्डा जमाने वाले विदेशी क्षत्रप अंततगोगत्वा भारतीय जीवन में घुल-मिल गए। कैसे बहुत-सी अक्खड़ और फक्कड़ जातियां यहां दहाड़ती हुई आयीं और भारतीय संस्कृति की ऊर्जस्वी भागीरथी के वेगवान प्रवाह ने उनके कोने घिस-घिसकर उन्हें शालिग्राम बना दिया। कैसे यूनानी मिनोन्डर स्यालकोट का मिलिन्द बन गया और मिलिन्द प्रश्न के रूप में उसकी तात्त्विक जिज्ञासा बौद्ध साहित्य का अद्भुत अलंकार बन गई और कैसे हेलियोडोरस ने भागवत धर्म स्वीकार किया। सारी दुनिया जानती है कि ईसा के आविर्भाव के बहुत पहले ही इतना सब घटित हो चुका था पर उन दिनों भारतीय समाज की पाचनशक्ति तीव्र थी। भारतीय सांस्कृतिक जीवन में अनेक तत्वों को आत्मसात कर सकने की अद्भुत क्षमता थी उन दिनों, इसीलिए वह इन सब विजातीय द्रव्यों से भी पोषण ग्रहण कर

सका। भारत के उत्तर-पश्चिम में आज भी इस सांस्कृतिक प्रक्रिया के चिन्ह विद्यमान हैं। देश के भीतर भी ईसा से कई शताब्दियों पहले जब धर्माचार्यों ने, मठाधीशों ने कर्मकाण्ड को ही धर्म बताना शुरू किया था और धर्म को निहित स्वार्थों की पूर्ति का साधन बनाने की चेष्टा की थी तब प्रगटे थे महावीर और बुद्ध जिन्होंने अष्टावक्र की ही तेजस्विता प्रदर्शित की थी। कह दिया था इन दोनों ने, “अधर्म को धर्म बताने की चेष्टा मत करो।” और कहा था इन्होंने, “ओ धर्मोपदेशको! तुम्हारा बताया मार्ग सम्यक् नहीं है—नेदं सम्यग्वोपवर्तते—पाखंड को धर्म बताने का दुष्कर्म मत करो। आओ, धर्म की सम्यक् व्याख्या सुनें। हम दिखा रहे हैं तुम्हें अहिंसा और शांति का सम्यक् मार्ग। ईसा के बहुत पहले भी यदि किसी ने, चाहे वह पराया हो या अपना, भारतीय चेतना को पंगु बनाकर जड़ीभूत करने की चेष्टा की, तत्त्व को केवल नाम और रूप से ही व्याख्यायित करने का यत्न किया तो देश की मनीषा ने उसे सहन नहीं किया, और अष्टावक्र जैसे विद्रोहियों को उत्पन्न कर दिया। लेकिन यह सब तो आज से इक्कीस सौ वर्ष से पहले की घटनाएं हैं और आप तो आने वाली इक्कीसवीं सदी के मादक स्वप्न देखने में तल्लीन हैं। ऐसे में तो यह सब बातें आपको ‘बोर’ कर रही होंगी। आजकल लोगों ने ऊबना बंद कर दिया है, अब वे ‘बोर’ जो होने लगे हैं। ऊबना तो दकियानूसी है और ‘बोर’ होना है आधुनिक। जी हां, ‘माड’। तो आप ऊबें नहीं, इसलिए लम्बी चर्चा नहीं करता।

अशोक और मौर्य साम्राज्य के बारे में क्या लिखूँ? उनके बारे में तो बहुत कुछ पता है आप सबको और पता है गुप्त साम्राज्य के बारे में भी। यह सब भारत के वैभव के दिन थे। चतुर्दिक् यश के दिन थे। तब हम थे संस्कृति के संदेशवाहक और कहलाते थे जगद्गुरु। ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, स्थापत्य, कला-कौशल, कृषि, व्यापार-सभी में अग्रणी थे हम लोग। भारत उन शताब्दियों में श्रीसम्पन्न भी था और आध्यात्मिक रूप से समृद्ध भी। न केवल गुप्त साम्राज्य बल्कि

महाकौशल, वाकाटक, पल्लव, चोल, चेर, पांड्य शक्तियां भी भारतीय जीवन को समृद्ध बना रही थीं। इस बीच हूण आए, पराजित हुए और लौट गए। कालक्रम से गुप्त साम्राज्य में जर्जरता आयी तो आधी शताब्दी तक राजनीतिक शक्तियां आपस में टकराने लगीं। तब उदित हुआ हर्ष जैसा पराक्रमी। सातवीं शताब्दी के मध्य तक हर्ष भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर जाज्वल्यमान नक्षत्र की भांति प्रकाशमान रहा और तब तक किसी विदेशी की हिम्मत भारत पर आक्रमण करने की नहीं हुई। भारत उन दिनों तक विश्व की अजेय शक्ति माना जाता रहा है। यहां तक कि उन अरब विजेताओं ने, जिन्होंने हजरत मुहम्मद साहब के देहान्त के पचास वर्षों में आधे विश्व पर अधिकार कर लिया था और गोबी के मरुस्थल से अटलांटिक महासागर तक इस्लाम की ध्वजा फहरा दी थी, भारत की तरफ मुंह नहीं मोड़ा। ऐसी थी उन दिनों भारत के पराक्रम की प्रतिष्ठा। यही वे दिन थे जब हमें लोग सोने की चिड़िया समझते थे और हाथ मलते रहते थे हमारी सम्पदा देखकर। सोचते थे कि कब भारत की शक्ति क्षीण हो और कब झपट्टा मारकर इसे नोंच-खसोट डालें।

न जाने क्या हुआ कि सातवीं शती में सम्राट हर्ष की मृत्यु के बाद, भारत के उत्तरी भाग में राजनीतिक शक्ति का केन्द्रबिन्दु उभर ही नहीं सका। हर्ष का साम्राज्य बिखर गया और बिखर गई भारत की सैन्य शक्ति। उत्तरी-पश्चिमी सीमाएं शनैः-शनैः असुरक्षित होती चली गई और देश में छोटे-छोटे राजे-रजवाड़े अपनी अहम्मन्यता के शिकार परस्पर ईर्ष्या, द्वेष एवं षड्यंत्रों से ग्रस्त होकर पनपने लगे। तब नवीं शताब्दी तक भारत लगभग सुरक्षित ही रहा। फिर हुए गजनी के महमूद के आक्रमण और उसने भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा की सुरक्षा-व्यवस्था तहस-नहस कर डाली। महमूद गजनवी से मुहम्मद गौरी तक लूट और विनाश का ऐसा तांडव मचा कि उसका उदाहरण अन्यत्र मिलना मुश्किल है। उन्हीं दिनों मथुरा लुटी, सोमनाथ टूटा और लूटा हजारों पूजास्थल। महमूद गजनी द्वारा मथुरा की लूट का वर्णन करते हुए

विल ड्यूरा ने अपनी पुस्तक 'दि स्टोरी ऑफ सिविलाइजेशन' में लिखा है, "At Mathura, he took upon the temple, its statues of gold, silver and jewellery; he expressed his admiration for the architecture of the great shrine, judged that its duplication would cost one hundred million dinars and the labour of two hundred years and then ordered it to be soaked in naphtha and burnt to the grounds. मथुरा में उसने मंदिर, उसकी सोने की मूर्तियां, चांदी और आभूषण लूटे, उसने मंदिर के महान वास्तु-शिल्प की प्रशंसा की, विचार किया कि ऐसा ही दूसरा मंदिर बनवाने में दस करोड़ दीनारों और दो सौ वर्ष लगेंगे और फिर उसने मंदिर को आग लगाकर भूमिसात करने का आदेश दिया।"

इस कदर लूटा महमूद गजनवी ने भारत को कि वह विश्व का सर्वाधिक धनी राजा बन गया। लूटपाट का यह सिलसिला बहुत दिनों तक चलता ही रहा। कभी मुहम्मद गोरी ने लूटा, कभी तैमूर लंग ने, तो कभी नादिरशाह ने। मयूर सिंहासन, कोहनूर हीरा, और भी न जाने कितने बहुमूल्य मणिरत्न, सुवर्ण-रजत भंडार लूट लिये गए। आपसी फूट की कितनी कीमत चुकानी पड़ी हमें। बारहवीं शताब्दी में कुतुबुद्दीन ऐबक को सौंपी गई दिल्ली की सल्तनत और फिर सोलहवीं शती के प्रारम्भ से अठारह सौ सत्तावन तक दिल्ली पर कमोवेश अधिकार रहा मुगल वंश का। पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी के माध्यम से और बाद में दिल्ली पर अधिकार करके अंग्रेज ने क्या कुछ दिया, उसे भी बताऊंगा, पर थोड़ा ठहरकर। पुरानी बातों का सिलसिला अब खत्म ही करने वाला हूं। भारत पर गजनी के महमूद से बाबर तक की विजय के बारे में विल ड्यूरा ने जो लिखा है उसे बताए बगैर तो बात अधूरी ही रह जायेगी। तो सुनिए, उसने क्या लिखा है? वह कहता है, "It is a discouraging tale, for its evident moral is that civilisation is a precarious thing, whose delicate

complex of order and liberty, culture and peace, may at anytime be overthrown by barbarians invading from without and multiplying from within.”

अर्थात् यह हताशा भरी कहानी है क्योंकि यह इस संदेश की साक्षि कि सभ्यता एक अस्थायी वस्तु है जिसकी व्यवस्था, स्वतंत्रता, संस्कृति और शान्ति का नाजुक ताना-बाना कभी भी बाहरी बर्बर आक्रांताओं और भीतरी शत्रुओं के प्रहार से ध्वस्त किया जा सकता है। और फिर भारत-वासियों को चेतावनी देता है कि “The bitter lesson is the price of civilisation. A nation must love peace but keep its power dry.”

अर्थात् जो शिक्षा हमें मिलती है वह है सभ्यता की कीमत के बारे में। किसी देश को शान्ति से प्रेमपूर्वक तो रहना चाहिए परन्तु अपने हथियारों को भी तैयार रखना चाहिए।

भारत के लोगों ने तो शायद सोचा था कि बारूद के ढेर पर बैठकर शांति का विचार कैसे आ सकता है? हम तो कहते रहे हैं कि ‘शान्तिरेव शान्ति’ शांति भी शांत रहे। शांति-स्थापना की अशांति को भी हमने कभी उचित नहीं माना। लेकिन बर्बर, असभ्य, हिंसक और निहित स्वार्थी में लीन लोगों से बचे रहने का प्रबंध रखना भी तो जरूरी है। दोनों में संतुलन रखे बगैर संस्कृति की रक्षा करना आज के युग में सम्भव नहीं।

थोड़ा धैर्य और धारण कीजिए। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की चर्चा के पूर्व एक-दो महत्वपूर्ण बातें और याद दिला दूं, भले ही आप नाराज होकर मुझे मारने ही क्यों न लगें! उन दो-चार घटनाओं का उल्लेख करने का लोभ तो हरगिज संवरण नहीं कर रहा हूं। जब विश्व में इस्लाम का प्रसार हो रहा था तो उसी समय के आसपास भारत में शंकराचार्य भी साधनारत थे। पता नहीं कैसे उस मनीषी को यह आभास हो गया था कि दुर्बल राजशक्ति इस देश की एकात्मता का

संरक्षण नहीं कर सकेगी तो उसने सांस्कृतिक चेतना की अलख जगाई। एक ओर तो दार्शनिक स्तर पर उपनिषदों की स्थापनाओं की युगानुकूल व्याख्याएं दीं तथा भारत की मूल चिंताधारा के प्रवाह के अवरोधों को दूर किया, दूसरी ओर चारों दिशाओं में चारों धाम और शक्तिपीठों का पुनर्जागरण भी कर दिखाया। शंकर स्वामी ने ठीक अष्टावक्र की ही भांति कहा था, 'नेदं सम्यगिवोपवर्तते'। ह्यासमान व्यवस्थाओं के धार्मिक मठाधीश बने बैठे जो लोग निहित स्वार्थों के पोषण के लिए मतिभ्रम फैला रहे हैं, वह ठीक नहीं है। आओ, शास्त्रार्थ करें। आओ समझें, 'सर्वमिदं खलु ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'तत्त्वमसि'। कठमुल्लावाद के विरुद्ध शंकर डटकर खड़ा हो गया। उसने कहा, "वह देखो, वटवृक्ष के नीचे अद्भुत आश्चर्य! वहां नौजवान गुरु वयोवृद्ध शिष्यों को मौन उपदेश दे रहा है।" शंकर ने एक वाक्य में ही समझा दिया कि ज्ञान के क्षेत्र में आयु का महत्व नहीं है, महत्व है ज्ञान की पकड़ का, अनुभूति की तीव्रता का, सत्य के साक्षात्कार का। उसने आवाहन किया सत्य की साधना का, भारतीय मनीषा के नवजागरण का। जानते हैं, इसका परिणाम क्या हुआ? देश में सांस्कृतिक चेतना की ऐसी पीयूषधाराएं प्रवाहित होने लगीं कि जिनके रस से परिपुष्ट होकर भारतीय मनीषा उस झंझावात के समक्ष भी जीवित रह सकी, जिसने एशिया और यूरोप की प्राचीनतम संस्कृतियों का विध्वंस कर दिया था, जिसने पुस्तकों को जलाकर उनकी आंच में हम्माम गरम किए थे। इसी सांस्कृतिक प्रवाह से उपजे थे अनेक आचार्य संत और भक्त जिन्होंने भारत की पहचान निरन्तर बनाए रखी। गिनती करना सम्भव नहीं, देश का कोई कोना, कोई भाषा, कोई क्षेत्र, कोई वर्ण नहीं बचा, जिसमें भारतीय संस्कृति की ऊर्जा प्रस्फुटित न हुई हो। भारत में जब मुस्लिम शासक आए और यहां रहे, तब जो वैचारिक आदान-प्रदान हुए उनका परिणाम आज भी दिखाई देता है। इसी विचार-मंथन में से जन्मे थे सूफी संत। सूफी मत तो शंकर के वेदान्त और इस्लाम के सम्मिश्रण के ही परिणाम हैं। सूफियों

ने सिखाया दुनिया को वहाद-अल-वजूद-एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति! उन्होंने बताया कि विश्वात्मा तो एक है। सृष्टि उसी का विविध रूपों में प्रकटीकरण है और इसी अन-हल-हक का ज्ञान सत्य का ज्ञान है। इसी सिद्धांत पर मंसूर फांसी पर चढ़ गया था। जब उसे फांसी पर चढ़ाया जा रहा था तब भी उसने कहा था-‘अन-हल-हक-अहं ब्रह्मास्मि’ और यही कहते-कहते वह ब्रह्म में लीन हो गया।

कैसे समझाऊं आज शंकराचार्य की दूरदृष्टि का महत्वा न जाने कैसे समझ लिया था उस ऋषि ने कि यदि भारत की धन-सम्पत्ति लुट गई तो शायद पुनः अर्जित हो सकती है, पर सांस्कृतिक सम्पदा नष्ट हो गई तो भारत नष्ट हो जायेगा। भारत की मनीषा को विनाश से बचा लिया शंकराचार्य ने। अष्टावक्र ने यही तो कहा था, शारीरिक विकलांगता से अधिक घातक है मानसिक विकलांगता। आत्मबोधकारी ज्ञान, इतिहास का स्वच्छ, पारदर्शी, सम्यक् बोध राष्ट्रों की चेतना का उत्स है, मूल स्रोत है। इस स्रोत को कलुषित मत होने दो, इसकी रक्षा के लिए जो कुछ करणीय है सब करो। इसी दृष्टि का परिणाम है कि भारतीय सांस्कृतिक प्रवाह की भागीरथी ने पारसीक, ग्रीक, हूण, तुर्क, अफगान, मंगोल जैसी जातियों को, अनेक दर्शनों, मसीहाओं और पैगम्बरों के सारस्वत दर्शन को आत्मसात किया और विश्व संस्कृति के महासमुद्र को अपने अमृतजल से परिपूर्ण कर दिया। इतिहास साक्षी है कि अठारह सौ सत्तावन तक भारत का मानस पराभूत नहीं हुआ था। ज्ञान-सूर्य भले ही न तप रहा हो, पर ज्ञानद्वीप तो अवश्य जल रहा था।

फिर आया अंग्रेजी शासन। अठारह सौ सत्तावन का स्वतंत्रता संग्राम हम हार गए। दिल्ली पर अधिकार हुआ फिरंगी का। देश जा पड़ा शोषण के भयंकर शिकंजे में। सच तो यह है कि अंग्रेजों द्वारा शोषण की प्रक्रिया उसके भी सौ साल पहले से चल रही थी। वह सब जानना बहुत ही आवश्यक है। देशवासियों से अनुरोध है कि उस सब घटनाचक्र को पूरी गहराई से समझ लें। उसी में छिपे हैं इक्कीसवीं सदी में एक

विशेष ढंग से ढकेले जाने के बीज।

सन् 1600 में बनाई गई थी एक कम्पनी, एलिजाबेथ प्रथम के शासनकाल में। उसका पूरा नाम था 'द गवर्नर एण्ड कम्पनी ऑन मर्चेन्ट्स ऑव लण्डन ट्रेडिंग विद द ईस्ट इन्डीज', संक्षेप में ईस्ट इंडिया कम्पनी। इस कम्पनी के विस्तार के लम्बे इतिहास को जरूर पढ़ना चाहिए, पर आज नहीं। वह हो जायेगा विषयांतर और लेख बन जायेगी पूरी पुस्तक। पर यह जरूर याद रखना चाहिए कि डच, पुर्तगाली, फ्रांसीसी-सब देशों की व्यापारी संस्थाओं से टकराते, जूझते, चालाक ब्रिटिशों की कम्पनी धीरे-धीरे बड़े क्षेत्रों और फिर बड़े-बड़े नवाबी इलाकों के व्यापार और प्रशासन की स्वामिनी बन बैठी। सन् 1682 तक इस कम्पनी के मुनाफे का हाल यह था कि एक शेयर पर पचास प्रतिशत मुनाफा और शत-प्रतिशत बोनस बंट रहा था और सन् 1683 में इसका प्रति शेयर लाभ 100 पाउंड प्रति शेयर बढ़ाकर 360 पाउंड प्रति शेयर घोषित किया गया था। यह सब लाभ और पूंजी की बढ़ोतरी मालामाल कर रही थी कम्पनी के अंग्रेज मालिकों को।

ईस्ट इंडिया कम्पनी बनी तो थी मुख्यतः मसालों के व्यापार के लिए, पर इसने देखा कि भारत से अन्य सामग्री का निर्यात करके तो और भी लाभ कमाया जा सकता है। इसने भारत से कपड़ा, दस्तकारी के सामान व अन्य तैयार माल खरीदकर इंग्लैंड में बेचना शुरू किया। कम्पनी का तो मुनाफा बढ़ गया मगर ब्रिटेन के शासकों ने देखा कि इंग्लैंड का धन खिंचकर भारत की तरफ जा रहा है। सच तो यह है कि सत्रहवीं शताब्दी में भी, दलित एवं पराधीन भारत विश्व के सर्वाधिक धनी देशों में था। पर हमें पढ़ाया गया है कि भारत सदा से गरीबों का, साधुओं का और सांपों का देश रहा है। इंग्लैंड के शासकों ने जब देखा कि भारत की बनी वस्तुओं, विशेषकर कपड़ों के लिए जनता पागल हो जाती है और इस तरह ब्रिटिश फैक्ट्रियों के व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ता है तो उन्होंने एक तरफ तो भारतीय सामग्री के आयात पर भारी

टैक्स लगाकर उसे आने से रोका, दूसरी तरफ ईस्ट इंडिया कम्पनी को आग्रह किया कि वह भारत से तैयार माल न खरीदे बल्कि कच्चा माल खरीदकर इंग्लैंड भेजे। लगभग सौ वर्षों तक प्रयत्नपूर्वक ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने ऐसी आर्थिक नीति का विकास किया कि जिससे भारत, इंग्लैंड के तैयार माल का बाजार बन जाए। अठारहवीं शताब्दी के अंत तक ईस्ट इंडिया कम्पनी से व्यापारिक अधिकार इंग्लैंड की सरकार के पास चले गए और तब प्रारम्भ हुआ एक भयानक आर्थिक षड्यंत्र।

ढाका और मुर्शिदाबाद के बुनकरों के हाथ के अंगूठे काट डाले गए ताकि वे सुपरफाइन कपड़ा ही न बुन सकें। क्या यह मालूम है मेरे देशवासियों को कि इंग्लैंड की मिलें तब वैसा बारीक कपड़ा नहीं बुन सकती थीं जैसा हमारे बुनकर हाथ से तैयार करते थे। अंग्रेज ने अपनी मिल चलाने के लिए हमारे श्रमिकों के अंगूठे काटे थे। यह सुनकर क्या उनके अंगूठे वापस लाने की टीस पैदा नहीं होती मेरे देश के नौजवानों में? क्या इक्कीसवीं सदी में उनके हाथ-पांव के अंगूठे मिल पाएंगे वापस? एक घिनौना षड्यंत्र उन गोरी चमड़ी वालों ने चलाया था, जो आज भी जारी है, जिसमें फर्स्ट वर्ल्ड और सेकेण्ड वर्ल्ड के गोरे अधिपतियों को काले, पीले और भूरे थर्ड वर्ल्ड वासियों का रक्त चूसते रहने की आजादी मिली हुई है, क्या इक्कीसवीं सदी में भी यह सब चलता रहेगा?

पढ़ो मेरे देशवासियों, पढ़ो, अठारहवीं, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के ढाई सौ वर्षों के अंग्रेजी काले कारनामे। कैसे उन्होंने ध्वस्त किया हमारे उद्योगों को? कैसे नष्ट किया हमारी कृषि को? कैसे उजाड़ा हमारे स्वाधीन गांवों को? कैसे तोड़ी हमारी पंचायतें और कैसे सत्यानाश किया हमारी पाठशालाओं को? कैसे विकृत किया हमारे इतिहास और साहित्य को और कैसे बनाया हमें हीनभाव से ग्रस्त? बहुत चालाकी से उन्होंने हमारे मर्म पर आघात किया और हमारी मनीषा को खंडित करने का पूरा प्रपंच रचा-शिक्षा की नयी

प्रणाली द्वारा। जानते थे इस बात को हमारे देश के स्वतंत्रता-संग्राम के अग्रदूत-चाफेकर बंधु, तिलक, सावरकर, महात्मा गांधी, नेताजी सुभाष और हुतात्मा क्रांतिकारी चन्द्रशेखर आजाद, अशफाक उल्लाह खां और भगत सिंह। इसीलिए तो ये लोग प्राणों को हथेली में रखकर भी भारत को मुक्ति दिलाना चाहते थे उस पाशवी शिकंजे से। समझते थे महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द भारतीय मनीषा को अपभ्रष्ट करने का मतलब। क्या तुम्हें फुरसत है यह सब जानने की? क्या नहीं जानते तुम कि पाखंड का विरोध करने के कारण दयानन्द को क्यों जहर दिया गया था? उसने भी कहा था-‘नेदं सम्यगिवोपवर्तते।’ क्यों फांसी पर चढ़ाए गए थे असंख्य क्रांतिवीर? क्यों हुआ था अठारह सौ सत्तावन और क्यों हुआ था सन् बयालीस? क्यों देश की जवानी दीवानी होकर ‘करो या मरो’ के आवाहन पर मृत्यु के गान में जीवन की तान सुनने चल पड़ी थी, अपना सब कुछ छोड़कर? किसी को भी तो जल्दी नहीं थी तब इक्कीसवीं सदी में जाने की!

हां, बस एक जल्दी थी, भारतभूमि को दासता से छुड़ाने की, उसे स्वाधीन कराने की, और उसे अपने प्राचीन परम वैभव तक पहुंचाने की, भारत की पहचान बनाए रखने की। अपने देश में अपना तंत्र स्थापित करने की जल्दी थी, और जल्दी थी भारत के निरीह श्रमिकों को उनके अंगूठे वापस कराने की। वे सब जानते थे कि प्लासी के युद्ध के बाद जिस विशाल औद्योगिक साम्राज्य का निर्माण अंग्रेजों ने किया था, मानचेस्टर और लिवरपूल के जो दैत्याकार कारखाने उन्होंने स्थापित किए थे, उन सबकी नींव भारत के कृषकों, श्रमिकों, व्यापारियों-सबके खून से रखी गई थी।

वे यह भी जानते थे कि अगर अंग्रेजी शासन कुछ वर्ष और रह गया तो भारत की मनीषा भी पंगु हो जायेगी। तब भारत सदा के लिए नष्ट हो जायेगा। इसलिए जितनी जल्दी हो सके, जितना भी बलिदान देना पड़े, जितनी भी कीमत चुकानी पड़े, वे चुकाएंगे पर भारत की संस्कृति,

भारत की आत्मा नष्ट होने से बचाएंगे। और अंग्रेज भी अच्छी तरह जानता था कि अगर भारत की मनीषा का ऊर्जस्वी स्रोत फूट निकला तब शोषण के सारे षड्यंत्र बेनकाब हो जायेंगे। इसीलिए उसने हर संभव प्रयत्न किया भारत की मनीषा को खंडित करने का और हर छल किया हमारी चिति को नष्ट करने का। उसने पढ़ाया हमें कि वेद गड़रियों के गीत हैं, भारत एक धर्मशाला है, यहां जो चाहे आए, राज करे और चला जाये। यह एक राष्ट्र नहीं है। यह अनेक उपराष्ट्रों का समूह है। इसका सारा ज्ञान ग्रीक दार्शनिकों की देन है। यहां की जलवायु बहुत ही खराब है, वह आदमी को आलसी और निकम्मा बना देती है। अंग्रेज ने आकर भारतवासियों को सभ्य बनाया अन्यथा यह तो ठगों का देश था और यहां अंधविश्वास, जादू-टोना, सांप-मदारी या संन्यासी इसके सिवा कुछ नहीं है। पता नहीं आज के नवयुवकों को 'हासइटमैन्स बर्डन' (White man's burden) के सिद्धांत को पढ़कर कुछ मन में होता है या नहीं, पर बहुतों का खून खौल उठता था यह बकवास भरा सिद्धांत पढ़कर। हां, अंग्रेजों ने एक तरफ भारी गोल-माल किया हमारी शिक्षा प्रणाली में, हमें ज्ञानगंगा की मूलधारा से काटने का प्रयत्न किया। ऐसा पाठ पढ़ा दिया हमें कि सारा इतिहास-बोध ही बदल गया। दूसरी तरफ उसने हमारी अर्थव्यवस्था को जड़मूल से नष्ट कर दिया। पता नहीं, मेरे देशवासियों को याद है या नहीं कि बंगाल में अंग्रेजी शासन के सौ वर्षों में एक दर्जन भयानक दुर्भिक्ष पड़े थे। जिन्होंने 1943 का दुर्भिक्ष देखा है वे जानते हैं कि अंग्रेज ने कैसी चालाकी से बंगाल में अकाल पैदा करवाया था। हां, यह कहने में मुझे संकोच नहीं कि उन्नीसवीं शताब्दी के वे दुर्भिक्ष भारतीय किसान की कमर तोड़ने का एक अत्यंत घिनौना षड्यंत्र था। भारत में अंग्रेजी राज के आर्थिक दुष्परिणामों को समझना बहुत आवश्यक है। जो लूट इन्होंने मचाई और अर्थव्यवस्था का जैसा विध्वंस इन्होंने किया, उसके सामने महमूद गजनवी और नादिरशाह सब फीके पड़ गए। उन्होंने तो मंदिर तोड़े और लूटे पर इन्होंने तो भारतीय

अर्थव्यवस्था की रीढ़ तोड़ दी, हमारे परम्परागत उद्योग-धंधे सब चौपट कर दिए, हमें उत्पादक राष्ट्र से उपभोक्ता बाजार बना दिया। भारत में बेरोजगारी इसलिए है कि भारतीय उद्योग-धंधे योजनापूर्वक नष्ट किए गए, लाखों कारीगर बेकार बना दिए गए। एक ही उदाहरण पर्याप्त है, भारत में फौलाद बनाने का काम व्यापक रूप से जिन भट्टियों में होता था उन्हें इसलिए नष्ट किया गया क्योंकि उनका बना फौलाद सस्ता और बढ़िया होता था। हजारों कारीगर अकेले इसी उद्योग के बंद होने से दरिद्र बना दिए गए। यह है रहस्य हमारी दरिद्रता और बेरोजगारी का।

हमें बताया जाता है और हम स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि वह विचारधारा अंग्रेजी भाषा में, नये मुहावरों के माध्यम से बतायी जाती है कि भारत का औद्योगीकरण अंग्रेजों ने किया। इससे बड़ा झूठ और कोई नहीं है। सच तो यह है कि भारतीय उद्योग और उद्यमशीलता को नष्ट करके अंग्रेजों ने अपने फायदे के धंधे यहां लगाए। रेल इसीलिए नहीं बिछाई कि भारतीय जनता को लाभ हो बल्कि इसलिए कि अंग्रेजी फौज का आवागमन जल्दी हो सके। आंखें खोलकर देखने से सब पता चल जाता है कि हमें किस तरह बुद्धू बनाया गया। हमें यह भी पढ़ाया जाता है कि विज्ञान हमें अंग्रेजों ने सिखाया। पर मेरे देशवासियों, सारी दुनिया यह जानती है कि गणित, खगोल विद्या, रसायनशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, शल्यक्रिया, धातुकर्म, स्थापत्य, विज्ञान का कौन-सा ऐसा क्षेत्र था जिसमें अंग्रेजों के आने से सदियों पहले से भारतवासी दखल न रखते हों। ईसा के बहुत पहले मोहन जोदड़ो एवं हड़प्पा की नगर सभ्यता इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि भारतीय जनता ने एक अत्यंत समुन्नत संस्कृति विकसित की थी, जिसका आधार एक वैज्ञानिक मानस था।

याद है, सत्ता के हस्तांतरण के समय भारत के प्रधानमंत्री द्वारा दिया गया भाषण? पंडित नेहरू ने कहा था, “अनेक वर्ष पूर्व हमने नियति को निमंत्रण दिया था, एक चुनौती दी थी, भारत को आजाद कराने की। आज मध्य रात्रि की निस्तब्धता में, जब सारा विश्व सो

रहा है, तब भारत जागेगा, एक नये भारत का उदय होगा।” उन्होंने कहा था, “We end today an era of misfortune and India discovers herself again.” तब देश की तरुणाई के मन में एक आशा जगी थी—“आह! अब दुर्दिन समाप्त हुए, अब ऋद्धि, सिद्धि और समृद्धि के लिए तप करेंगे और देश अपने आपको पहचानेगा, अपनी सुप्त शक्ति को पहचानेगा और अपना भविष्य स्वयं बनाएगा।’ संविधान सभा के अध्यक्ष राजेन्द्र बाबू ने भी कुछ ऐसा ही कहा था, “To all we give the assurance that it will be our endeavour to end poverty and squalor and its companions, hunger and disease, to abolish destructions an exploitation and to ensure decent conditions of living.” यह आश्वासन दिया था उन्होंने कि देश की सरकार भारत से दरिद्रता, रोग एवं गंदगी का कलंक मिटाने एवं विभेद तथा शोषण को सदा के लिए समाप्त करने तथा आम आदमी के रहने-सहने की समुचित व्यवस्था करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहेगी। आजादी के इन चालीस वर्षों में क्या भारत अपने आपको पहचान सका है? और क्या हमारे कदम बढ़ सके हैं एक समतायुक्त एवं ममतापूर्ण समाज की निर्मिति की ओर? शायद नहीं।

महात्मा गांधी कहा करते थे, “जवाहर चाहता है कि अंग्रेज चले जाएं पर अंग्रेजियत बनी रहे, जबकि मैं (गांधी जी) अंग्रेजियत को भगाना चाहता हूँ, अंग्रेजों से मेरा कोई बैर नहीं।” दोनों की मानसिकता का यह अंतर उनके पृथक-पृथक इतिहास-बोध को दर्शाता है और उजागर करता है भारतीय यथार्थ को समझने की, उनकी दृष्टि-भिन्नता को भी। गांधी जी के विचार में अंग्रेजियत जिस पाश्चात्य औद्योगिक अर्थव्यवस्था की प्रतिनिधि थी, वह शोषण पर आधारित थी और उपनिवेशवाद की प्रतीक थी। यह ढांचा भारतीय नैतिक मूल्यों, समाजार्थिक संरचना एवं जीवन-दृष्टि के लिए घातक था और भारत के अधःपतन का मूल कारण भी था। पर पंडित नेहरू इसी पाश्चात्य

औद्योगिक अर्थव्यवस्था को आधुनिकता, प्रगतिशीलता और वैज्ञानिकता का समानार्थी मानते थे और देश को उसी रास्ते पर ले जाना भी चाहते थे। अंग्रेज इस बात को समझता था और इसीलिए उनके प्रधानमंत्री बनने पर ब्रिटिश हुक्मरानों को बहुत संतोष हुआ था। भारत द्वारा ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के सदस्य बने रहने के निर्णय से तो वे उछल पड़े थे। भारत के सम्पर्क का रास्ता पूरी तरह बंद न हो और इंग्लैंड के आर्थिक हितों का संरक्षण किया जा सके, यही तो वे चाहते थे। सुई की नॉक बराबर छेद मिल जाने पर भी ये चालाक निहित स्वार्थी शक्तियां पूरी संध लगा लेती हैं, इनका यह चरित्र सदा से रहा है।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यापक रूपांतरण होना प्रारम्भ हुआ। नये शक्ति समीकरण उत्पन्न होने लगे और शक्ति का गुरुत्व केन्द्र ब्रिटेन एवं जर्मनी से खिसककर अमेरिका और रूस के मध्य जा पहुंचा। जर्जरित यूरोप ने आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए विज्ञान और तकनीकी का संबल ढूंढा और एक नये अंतर्राष्ट्रीय अर्थतंत्र का सूत्रपात हो गया। अमेरिका और रूस दो शक्ति गुटों के बीच विश्व को बांटने की प्रक्रिया इसी नयी औद्योगिक प्रणाली ने तीव्र कर दी। नयी तकनीकी ऊर्जा के स्रोतों और प्राकृतिक संसाधनों पर अपना अधिकार जमाए रखना इन दोनों महाशक्तियों के लिए अनिवार्य बन गया। वितरण और स्वामित्व के प्रश्नों पर मतभेद होते हुए भी उत्पादन की प्रणाली में इन दोनों में अद्भुत साम्य था। प्रकृति और भूमि के शोषण की जो शुरुआत पूंजीवाद ने की थी, कम्युनिज्म ने उसे बेहिचक आगे बढ़ाया। इस नयी तकनीकी का परिणाम प्रकृति के अमर्यादित दोहन एवं अनियंत्रित उत्पादन तथा विवेकहीन उपभोग के रूप में प्रकट हुआ। नये सामाजिक मूल्य और नये नैतिक मूल्य इसी में से उपजे। नव प्रौद्योगिकी में जिन देशों या समूहों का न्यस्त स्वार्थ विकसित हो गया था। उन्होंने अपने अस्तित्व के औचित्य के लिए विकास की एकमात्र परिभाषा आर्थिक उत्पादन में वृद्धि की दर के रूप में स्थापित कर दी। यूरोप

के जिन देशों ने यह गोरखधंधा रचा था उनकी जनसंख्या बहुत थोड़ी थी, अतः वे उनके लिए ऐशो-आराम के बहुत से साधन जुटाने में समर्थ हो सके। ये देश अपने को विकसित कहने लगे और शेष विश्व को अर्द्धविकसित या अविकसित या विकासशील देश पुकारने लगे। अमीर और गरीब के पुराने चुभने वाले नाम ही इस नयी शब्दावली द्वारा प्रचलित किए गए, हमें गुमराह करने के लिए। इस शब्दावली में ऋण को सहायता कहते हैं और ब्याज को कहते हैं 'सेवा शुल्क'।

इस नये तंत्र की नींव जिस वैज्ञानिक तर्कवाद पर पड़ी थी उसने मनुष्य और प्रकृति को एक-दूसरे से पृथक माना था। उसकी स्थापना थी कि मनुष्य प्रकृति का निर्बाध शोषण करने को स्वतंत्र है। वह यह नहीं देख पाया था कि जीवन एक विशेष पर्यावरण की उपज है, और प्रकृति उसकी धात्री है। वह समझ नहीं सका कि मां का पयःपान पोषक होता है, पर मां का रक्त चूसना तो आत्मघात होगा। सीमित पर्यावरण एवं संसाधनों द्वारा असीमित उपभोग एवं आर्थिक विकास दर प्राप्त करने के लिए जिस तकनीकी-आर्थिक (Techno-Economic) तंत्र का आविष्कार किया गया, उसका मूल उद्देश्य प्रकृति का शोषण करना था, और उसका उत्स ब्रह्माण्ड की यांत्रिक परिकल्पना थी। उच्च जीवन-स्तर के लिए उच्च तकनीकी और उसके लिए अधिकाधिक ऊर्जा-स्रोतों एवं प्राकृतिक संसाधनों को अपने कब्जे में करने की कोशिश करना, इन शक्तियों के अपने अस्तित्व के लिए आवश्यक हो गया। विश्व जनमत को देखते हुए पुराने ढर्रे का उपनिवेशवाद या खुला आधिपत्य जमाना अब संभव नहीं था, अतः राष्ट्रों की स्वतंत्रता का आभास बनाए रखकर उनकी अर्थव्यवस्था को अपने तंत्र के साथ नत्थी कर लेने की नयी विधा अपनायी इन धूर्तों ने। जिन देशों का खून चूसकर इन महाशक्तियों ने अपनी तकनीकी विकसित की थी, उनको स्थायी रूप से निर्धन बनाए रखने का षड्यंत्र रचना इन फरेबियों ने। जिन्हें अविकसित राष्ट्र के रूप में प्रचारित किया, उनसे कहा गया, "अरे भाई, हमें देखो, जिस

रास्ते से हमने तरक्की की है, तुम भी उसी रास्ते से क्यों नहीं चलते? आ जाओ हमारे खेमे में, हम तुम्हें पूरी तकनीकी सिखा देंगे, सहायता देंगे, विशेषज्ञ भेजेंगे, तुम्हारे देश में बहार ले आएंगे।” अगर सीधे ये स्वीकार कर लिया तो ठीक है, वरना यह महाशक्ति बने बैठे देश ऐसी राजनीतिक परिस्थिति पैदा कर देंगे कि विवश होकर इन देशों को किसी न किसी रूप में अपने अर्थतंत्र का एक-न-एक दरवाजा इन कुचक्रियों के लिए खोलना पड़ता ही है।

अब अविकसित या विकासशील देशों को समझाया जाने लगा है कि, “तुम्हारे सांस्कृतिक मूल्य इस नवीन तकनीकी के प्रसार में बाधक हैं। तुम परम्परागत तौर-तरीकों से चिपटे हुए हो, इसीलिए पिछड़े हो। ओ, आधुनिक बनो। अर्थात् नयी तकनीकी-संस्कृति को एक साथ स्वीकार करो। एक पैकेज डील कर लो, (इकट्ठा सौदा) अपनी पुरानी पहचान नष्ट कर दो। हमारे अनुरूप अपने को ढाल लो, फिर देखो, हम तुम्हें कितना वैभवशाली बना देंगे?” कितने ही प्राधिकरण इस काम को बहुत बारीकी से कर रहे हैं, पता भी नहीं चलता कितनी ही बहुराष्ट्रीय कम्पनियां, विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, सांस्कृतिक-वैज्ञानिक संधियां, सांस्कृतिक विनिमय के नित नये रूप पर्यटकों की योजनाबद्ध भीड़, और भी भाति-भाति के ललचाने-फुसलाने वाले समारोह, सबका अदृश्य उद्देश्य विकासशील कहलाने वाले देशों को अपनी परम्परा से काटकर नयी तकनीकी-संस्कृति व्यवस्था के अंतर्गत ढकेलना है। जो एक बार इस जाल में फंस गया, उसका निकलना मुश्किल है। वह विवश कर दिया जाता है इन महाशक्तियों की उतरन पहनने को, उनकी जूठन चाटने को, उनकी तिरस्कृत-बहिष्कृत तकनीकी का कूड़ादान बनने को, उनके अतिरिक्त उत्पादन का उपभोक्ता बनने को और उनकी जहरीली दवाइयों के लिए गिनीपिग बनने को।

अब मेरे ‘प्रलाप’ का अंतिम चरण आ पहुंचा है। उन्नीस सौ छियासी तक पहुंचना बाकी है और फिर तो अगली छलांग में बस

इक्कीसवीं सदी में जा पहुंचेंगे। याद है न आपको, गांधी जी और नेहरू जी की दृष्टि का अंतर। नेहरू जी के अंग्रेजियत के प्रति मोह से देश दिग्भ्रमित हो सकता है, परम्परा से कट सकता है और प्रवाह-पतित हो सकता है, यह आभास बहुतों को होने लगा था। डॉक्टर मुखर्जी, आचार्य कृपलानी, डॉ. रघुवीर, डॉ. लोहिया, पं. दीनदयाल उपाध्याय सरीखे राजनेताओं ने देश को सावधान करने की चेष्टा की। गांधी जी की हत्या और सरदार पटेल की मृत्यु के बाद कांग्रेस में नेहरू जी पर अंकुश लगाने वाला कोई बचा नहीं। इसलिए पन्द्रह अगस्त को देश द्वारा अपनी पहचान पुनः बनाने का संकल्प कहीं खो गया। पश्चिमी तकनीकी प्राप्त करने की हड़बड़ी में हम धीरे-धीरे अपने आपको उनके जाल में फंसाते चले गए। हमने सोचा कि ज्ञान-विज्ञान के नाम पर, औद्योगीकरण के नाम पर हमें जो कुछ वहां से मिल रहा है, वह हमारे हित में है। पर नहीं, हमारे दाता बहुत चालाक थे। उन्होंने हमें जो कुछ दिया, उसके पीछे उनके निहित स्वार्थ काम कर रहे थे। हमारी मदद का तो बस दिखावा ही था। एक उदाहरण द्वारा यह तथ्य समझाना जरूरी है। हमारे यहां चार आई.आई.टी. खुले। चारों ही विदेशी संसाधनों पर आधारित। हमें समझाया गया कि वे संस्थान पश्चिमी तकनीकी को स्वदेशी भूमि पर लगाएंगे। हमारे लिए विशेषज्ञ बनाएंगे, जो देश का औद्योगीकरण करेंगे, हमें मालामाल करेंगे। होड़ मच गई हमारे देश के मेधावी छात्रों में वहां प्रवेश लेने के लिए। बीस वर्षों तक लगातार, भारत के सबसे मेधावी छात्र इन संस्थानों में प्रवेश लेते रहे, विशेषज्ञ बनते रहे और विदेश जाते रहे उनके उद्योगों एवं संस्थानों में काम करने। इन संस्थानों से शिक्षा प्राप्त कर चालीस प्रतिशत तक छात्र अमेरिका चले जाते हैं। कुछ विषय तो ऐसे हैं जिनकी शिक्षा लेने वाले अस्सी से शत-प्रतिशत तक छात्र विदेश चले जाते हैं। पिछले पचीस वर्षों से हमारे देश के लगभग दस हजार प्रतिभावान-इंजीनियर और वैज्ञानिक अकेले अमेरिका में ही जा बसे हैं। अन्य देशों की संख्या मिलाकर शायद कुल सत्तर

हजार लोग देश में पढ़कर विदेश का घर भर रहे हैं। एक बात बताऊं, अमेरिका में इन दस हजार विशेषज्ञों को तैयार करने में कम से कम दस अरब डॉलर खर्च करने पड़ते। भारत में यह खर्च दो से ढाई लाख रुपये होता है, अतः भारत जैसे गरीब देश से उसकी गाढ़ी कमाई के दो-ढाई अरब रुपये अमेरिका को मुफ्त में पहुंच गए। इन वैज्ञानिकों ने जो अमेरिका की राष्ट्रीय सम्पत्ति में योगदान किया, उसका हिसाब लगाने से माथा फिर जायेगा। अब अगर अमेरिका ने दस-बीस करोड़ रुपये भारत के इन संस्थानों की तरफ फेंक भी दिए तो क्या फर्क पड़ता है! इसी तरह जो आज विदेशी कम्पनियों के साथ तकनीकी हस्तांतरण के हजारों समझौते हो रहे हैं वे भी कल भारतीय श्रम और धन के प्रवाहक बन जाएंगे। लूटे जाने का यह नया ढंग कब समझेंगे भारतवासी? कौन बताएगा उन्हें? कहां से लाऊं आधुनिक अष्टावक्र? यहीं यह भी कहना चाहूंगा कि आई.आई.टी. हिन्दी को स्वीकार इसीलिए नहीं करता क्योंकि एक बार हिन्दी या कोई भारतीय भाषा वहां आ गई तो आत्मबोध की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जायेगी। इसीलिए जब-जब वहां हिन्दी का स्वर उभरकर कहना चाहेगा, 'नेदं सम्यगिवोपवर्तते', तब-तब कहा जायेगा 'तस्माद् वक्रो भवितास्यष्ट कृत्वः।'

भारत को इक्कीसवीं सदी की तरफ ढकेलने का जो शोर मचाया जा रहा है, वह छल-कपट से भरा हुआ है। वह उन लोगों द्वारा लगाया गया नारा है जो या तो अनजाने में, या जानबूझकर पश्चिमी देशों के तकनीकी-सांस्कृतिक अभियान के शिकार हो गए हैं। देश का दुर्भाग्य है कि सत्ता के शीर्ष पर उन लोगों को बैठने का अवसर मिल चुका है, जो भारत की गौरवशाली परम्परा से अनभिज्ञ हैं। उनमें से बहुत से वे हैं जो किसी-न-किसी रूप में विदेशी निहित स्वार्थों की अग्रदूत बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से संबंधित रहे हैं। भारत को उसके मूल सांस्कृतिक प्रवाह से पृथक करने का षड्यंत्र जोरों से चालू है। भारत में उच्च तकनीकी के आविर्भाव द्वारा जो लोग दरिद्रता-निवारण की बात करते हैं, उन्हें

कैसे समझाऊं कि यह नया तंत्र और जिस औद्योगिक प्रणाली से यह प्रस्फुटित हुआ है, वह स्वयं पिछले दो सौ वर्षों से किए गए हमारे अमानवीय शोषण से उपजे हैं। हमें दरिद्र बनाकर ही इस खर्चीली तकनीक के विकास के लिए पैसा जुटाया गया था। यह हमारी दरिद्रता का निवारण कैसे करेगी? हम इसलिए गरीब हुए कि हमारे उद्योग-धंधे, भारतीय नवयुवक को पश्चिमी भौतिक समृद्धि की ऊपरी तड़क-भड़क तथा भारतीय राजनेताओं को सुविधापूर्वक सत्ता पर बने रहने के लिए आवश्यक सहायता का फंदा फेंककर इक्कीसवीं सदी की जिस मोहिनी का स्वागत किया जा रहा है वह केवल उन थोड़े से भारतवासियों को समृद्धि का अमृत पिलाएगी जो अंतर्राष्ट्रीय निहित स्वार्थों के स्वर में स्वर मिलाकर उनकी धुन पर नाचेंगे। जो इनकार करेंगे और कहेंगे 'नेदं सम्यगिवोपवर्तते'—यह ठीक नहीं हो पा रहा है, उन्हें बेरोजगार, दरिद्र, रोगी, अपाहिज बनकर जीने को मजबूर कर दिया जायेगा।

इतिहास का एक अद्भुत तथ्य यह है कि सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों की इतनी पुरानी अविच्छिन्न परम्परा, भारत के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं परिलक्षित नहीं होती और यह भी उतना ही अद्भुत है कि इसे नष्ट करने के जितने प्रयत्न हुए हैं उन सबसे हर बार बचकर ही नहीं, अपितु अधिक पुष्ट होकर यह परम्परा और अधिक वेगवती एवं और अधिक ऊर्जस्व होकर बह निकली है। प्रत्येक निहित स्वार्थी आघात को विफल कर देने के लिए यहां अष्टावक्र सदा अवतरित हो जाते हैं। सृष्टि के प्रतीयमान विरोधाभासों में समन्वय की प्रक्रिया द्वारा भारत ने बहुत बार हलाहल को अमृत में बदला है। निहित स्वार्थों पर आधारित वर्तमान तकनीकी-सांस्कृतिक आक्रमण की भी वही नियति होगी, इसमें कोई संशय नहीं है। शोषण से प्रेरित, एकांगी भौतिक समृद्धि से उपजे नैतिक मूल्यों तथा समन्वय और एकात्म जीवन-दृष्टि पर आधारित संतुलित जीवन से प्रकटे सांस्कृतिक मूल्यों के टकराव से जो महान् मंथन होगा उसके गरल को पचाकर अमृत वितरण करने का ऐतिहासिक कार्य

भारत ही करेगा। विश्व एक बार पुनः आश्चर्यचकित होकर देखेगा कि संसार की प्राचीनतम आध्यात्मिक संस्कृति एवं नवीनतम भौतिक संस्कृति के संघर्ष की अग्निपरीक्षा में शाश्वत भारतीय जीवन-मूल्य पहले से भी अधिक प्रखर बनकर, अधिक पुष्ट होकर, अधिक तेजस्वी बनकर उभरेंगे।

हां, मैं इस बारे में केवल आशावान ही नहीं हूं, अपितु पूर्ण आश्वस्त भी हूं कि यह ऐतिहासिक कार्य भारत द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकेगा। यह जो करोड़ों भारतीय नवयुवक और इन जैसे दुनियाभर में फैले और भी जो हैं, जिन पर अभाव एवं अक्षमताएं लादी गई हैं और जिन्हें विकलांगता का अभिशाप बिना किसी अपराध के भोगना पड़ रहा है, जिन्हें संज्ञाशून्य करने की सारी कोशिशें चल रही हैं, उनमें एक तीव्र छटपटाहट पैदा हो रही है। वे अब अपने आपको पहचानने लग गए हैं। वे बार-बार कह रहे हैं—‘नेदं सम्यग्वोपवर्तते’। विश्व में यह जो कुछ व्यापार चल रहा है ठीक नहीं है, और वे पूछ रहे हैं निहित स्वार्थों के मठाधीशों से—‘बताओ, कहां हैं तुम्हारे पंडित, जिनसे हमें शास्त्रार्थ करना है, जिन्होंने भारतीय मनीषा को वारुणी पिलाकर किसी और की सेवा में भेजने का दुष्चक्र रचा है। सुनाई नहीं दे रहा उनका तुमुल घोष, कि वे अब और सहन नहीं करेंगे, ज्ञानगंगा को प्रदूषित करने का षड्यंत्र अब ज्ञान और विज्ञान को शोषण का हथियार कदापि नहीं बनने दिया जाएगा और उसे लगाया जाएगा दीन-दुखियों की विकलांगता दूर करने के लिए और मेरी आस्था है कि इन तमाम अष्टावक्रों द्वारा स्थापित मान्यताओं का कोई उत्तर उन दुष्टों के पास नहीं है। वे जब विश्व की इन महाशक्ति कहलाने वाले लोगों से जवाब मांगेंगे और पूछेंगे कि ‘किस अधिकार से तुम मानव समाज की इतनी विशाल संख्या को अपाहिज बना रहे हो, किस अधिकार से से तुम शाश्वत चिन्तन को अवरुद्ध करना चाह रहे हो; तब इन ‘का पुरुषों’ के पास शुद्ध एवं यथार्थ सत्य को उन्मुक्त करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं बचेगा। उस दिन न केवल भारत

और समूचे विश्व के शोषितों का अपाहिजपन दूर होगा बल्कि ज्ञान और विज्ञान का शोषण के उपकरण के तौर पर उपयोग भी बंद हो जाएगा।

यह मेरी निष्ठा है कि इक्कीसवीं सदी के लिए युगानुकूल जीवन-मूल्य भारत उपलब्ध कराएगा। चिरंतन एवं शाश्वत एकात्म दृष्टि से मुक्त मानव इक्कीसवीं सदी में एक कल्याणकारी तकनीकी के रथ पर आरूढ़ होकर भौतिक स्मृति पर आध्यात्मिक नियंत्रण रखता हुआ एक संतुलित जीवन-दर्शन प्रदान करेगा। भारतीय ज्ञानगंगा के अमृततत्त्व के रूप में प्रवाहित एकात्म मानव-दर्शन समंगा नदी के रूप में इक्कीसवीं शताब्दी में जाने वालों की शारीरिक एवं मानसिक विकलांगता को दूर करके उनसे कहेगा-‘शुभास्त ते पंथानः’।

□

नचिकेता

जब कभी युवा प्रवृत्तियों की चर्चा करने का अवसर मुझे मिलता है, तब मेरे समक्ष सहसा नचिकेता आ खड़ा होता है। कैसा था नचिकेता? उसका कोई चित्र तो उपलब्ध नहीं है, पर जैसा उसके बारे में लिखा गया है उससे अनुमान भर लग सकता है कि वह कैसा रहा होगा? शांत, विनम्र, तेजस्वी, निर्भीक एवं अदम्य साहसी। कौन था नचिकेता? इस बात को भी तो आजकल बहुत ही कम लोग जानते हैं। फिर आधुनिक साहित्य में तो शायद ही कभी उसका नाम पढ़ने को मिलता हो। फिल्म या दूरदर्शन का कोई धारावाहिक भी तो उसके बारे में दिखाया नहीं गया है, किसी फैशनेबुल कपड़े या प्रसाधन सामग्री का ब्रांड भी उसके नाम पर नहीं है और न ही कोई उपग्रह या जेट विमान उसके नाम से छोड़ा या चलाया गया है, फिर उसके नाम को हमारे देशवासी जानें भी तो कैसे? सोचता हूँ कि अगर किसी तरह इस 'अंतर्राष्ट्रीय युवा-वर्ष' में भारतवासियों को नचिकेता की याद दिला दी जाती तब मेरे जैसे बहुतों की दृष्टि में यह एक अच्छा काम माना जाता। पर 'अंतर्राष्ट्रीय युवा वर्ष' में ऐसी व्यर्थ की बातों के लिए अवकाश कहां? इस साल तो और बहुत से महत्वपूर्ण काम करने के लिए बचे हैं। मास्को, पेरिस, जेनेवा घूमना है। और फिर जो आनन्द और गौरव विदेशों के पार्कों में मदहोश और अनावृत पकड़े जाने में है वह भला

नचिकेता के उपाख्यान सुनने-सुनाने में कहां?

‘कठोपनिषद्’ के अनुसार नचिकेता द्वारा अपने पिता से तीन बार यह पूछने पर कि ‘तत् कस्मै मां दास्यसीति’-अर्थात् आप मुझे किसे दान में दे रहे हैं? उसके पिता ने चिढ़कर कहा, ‘मृत्यवे त्वा ददामीति’-मैं तुम्हें मृत्यु को देता हूँ। और मरणपथगामी बनकर नचिकेता चल दिया यमराज से भेंट करने। इसे पढ़कर बहुतों के मन में यह विचार आ सकता है कि पागल था वह युवक! अरे, बच्चों की हठ से खीझकर मां-बाप प्रायः कह देते हैं-“जा, तू मर जा!” तब क्या कोई युवक इतना सुनकर कहीं सचमुच ही मरने चल देता है? आजकल की दुनियावालों को भले ही यह अटपटा लगे, पर इस देश में तो नचिकेता के उपाख्यान की सहस्रों बार पुनरावृत्ति होती रही है।

इस उपाख्यान के अनुसार, बहुत काल पूर्व एक बार उद्दालक ऋषि ने विश्वजित् नामक ऐसा यज्ञ किया कि जिसमें यज्ञकर्ता को सर्वस्व दान करना पड़ता है। तदनुसार यज्ञ की परिसमाप्ति पर उद्दालक ऋषि ने भी अपना सारा धन बांटना शुरू किया। पर उन्होंने उत्तम और दुधारू एवं बल-सम्पन्न पशुओं को छिपाकर दुर्बल एवं अनुपयोगी गायों का दान प्रारम्भ कर दिया। नचिकेता इन्हीं उद्दालक ऋषि का पुत्र था। पिता का ऐसा लोभ वह सहन नहीं कर पाया। उसे ज्ञात था कि विश्वजित् यज्ञ के पश्चात् गोदान तो नितान्त अनिवार्य है पर वह यह भी जानता था कि जो गाएं दूध नहीं दे रही हैं और गर्भ धारण करने में अक्षम हो चुकी हैं, उनका दान तो पाप है। अतः उसने पिता को इस अन्याय से रोकने का विचार किया। पर करे कैसे? पिता का विरोध करना भी तो शास्त्रसम्मत नहीं था। अतः उसने पिता की भूल सुधारने के लिए युक्तिपूर्वक प्रश्न किया-“हे पिता! इस यज्ञ में तो सर्वस्व दान करना है तो मुझ पुत्र-रूपी धन को आप किसे दे रहे हैं?” नचिकेता ने सोचा था कि शायद पिता को इस प्रश्न का गूढ़ अर्थ समझ में आ जाएगा और तब वह स्वस्थ एवं उपयोगी पशुओं का दान करने में हिचकेंगे नहीं। परन्तु पिता पर

तो लोभ सवार था। वह समझे ही नहीं। तब नचिकेता ने प्रश्न पुनः दोहराया, लेकिन पिता फिर भी नहीं समझ पाए। नचिकेता ने तीसरी बार कहा-‘तत् कस्मै मा दास्यसीति?’ और पिता ने सोचा यह नालायक बेटा मेरे कार्य में बाधा डाल रहा है, बजाय अपनी भूल सुधारने के उन्होंने झट से नचिकेता को ही शाप दे डाला-‘मृत्यवे त्वा ददामीति’-जा, मर जा! अब कोई सामान्य युवक होता तो इतना सुनकर चुप बैठ जाता। सोचता, बहुत समझाया पर पिताश्री रास्ते पर ही नहीं आए। अब छोड़ो झंझट को, वे जानें और उनका काम जाने! मेरा कर्तव्य था उन्हें सावधान करने का, सो कर दिया। अब पाप-पुण्य के भागीदार तो पिता ही होंगे। लेकिन वह तो था नचिकेता, झट से तत्पर हो गया यमराज से साक्षात्कार के लिए। बोला-“पिताजी, आपकी आज्ञा शिरोधार्य, मैं जाता हूँ। मिलूंगा मृत्यु के अधिष्ठाता से। देखूंगा कैसा होता है उसका दर्शन। जरा जाकर देखूँ तो कि यमराज की क्या दशा होगी जब वे बिन बुलाए मेहमान के रूप में नचिकेता को सशरीर जीते-जागते अपने दरवाजे पर खड़ा देखेंगे। जरा वे भी तो देख लें कि भारतीय युवक कैसा होता है?”

निर्भीकचेता नचिकेता जब यम के द्वार पर पहुंचा तब पता चला कि वे तो कहीं बाहर गए हुए हैं। तीन दिन और रात निर्जल, निराहार नचिकेता उनकी प्रतीक्षा करता रहा। जब यमराज आए और उन्होंने देखा कि एक युवक भूखा-प्यास तीन दिनों से उनके द्वार पर बैठा है तब उन्हें बहुत ग्लानि हुई। अतिथि द्वार पर इस प्रकार उपेक्षित पड़ा रहे, यह तो घोर अपराध हुआ। अतः यमराज ने नचिकेता से निवेदन किया-“हे युवक! मेरा दोष क्षमा कर दो। मैं तुम्हें इन तीन दिनों के कष्ट के बदले तीन वरदान देता हूँ। प्रसन्न होकर मांग लो!” नचिकेता ने यह सुनकर पहला वर मांगा-“हे मृत्यो, मेरे पिता क्रोधरहित एवं शांत संकल्प हो जाएं।” यमराज ने एकदम कह दिया ‘तथास्तु’। नचिकेता ने दूसरा वर मांगा-“उस अग्नितत्त्व का ज्ञान, जिसे जानकर सभी जीव निर्भय बनकर एवं भूख-प्यास से रहित होकर सुखी जीवन व्यतीत कर सकते हैं।” इस विद्या को तो स्वयं यमराज भी भारी तपस्या के पश्चात् ही प्राप्त

कर पाए थे। अतः वे इसका उपदेश करने में हिचकिचाए। परन्तु परम जिज्ञासु नचिकेता के आग्रह के समक्ष उन्हें झुकना ही पड़ा। उन्होंने न केवल अग्नि-तत्त्व का उपदेश दिया वरन् नचिकेता की अप्रतिम प्रतिभा के सम्मान में उस अग्नि का नाम ही 'नचिकेत अग्नि' रख दिया।

इसके बाद यमराज ने कहा—'तृतीयं वरं नचिकेता वृणीश्व'।—हे नचिकेता! अब अपना तीसरा वर मांगो। यमराज सोचते थे कि अब तो नचिकेता की जिज्ञासा शांत हो गई है, शायद यह अब अपने लिए कुछ मांगेगा। आखिर मृत्यु का देवता जिस पर प्रसन्न हो जाये, उसे क्या कुछ नहीं मिल सकता। पर वहां तो पाला पड़ा था एक विलक्षण युवक से। नचिकेता ने कहा—“हे मृत्यु के अधिष्ठाता! अगर तीसरा वर देना ही है तो फिर मुझे जीवन और मृत्यु के रहस्य को समझाने की कृपा कीजिए। बताइए, मृत्यु के बाद क्या है? आत्मा का अस्तित्व रहता है या नहीं? हे यमराज, मुझे तो इस आत्मतत्त्व के ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहिए।”

यह सुनकर तो यमराज स्तंभित रह गए। क्या मांग बैठा नचिकेता? यह रहस्य कहीं मानव को बताया जा सकता है? और कैसा है यह युवक? ऋद्धि, सिद्धि, समृद्धि सब कुछ जब शब्दमात्र से मिल सकती है, तब भी यह अपने लिए कुछ नहीं चाहता? बस, जानना चाहता है जीवन और मरण का रहस्य! मृत्युदेव बोले—“अरे नचिकेता! यह तुम क्या कह रहे हो? जानते नहीं, इस विद्या को प्राप्त करना बहुत कठिन है। देवता भी इसे सीख पाने में सक्षम नहीं होते। जरा सी भी असावधानी होने पर प्राण गंवाने पड़ सकते हैं।” पर नचिकेता तो था अविचल। उस पर इन बातों का क्या असर? कहता है—“साक्षात् मृत्यु के सामने ही तो खड़ा हूं, अब और कहां जाना होगा प्राण गंवाने? यमराज, आपने ही वर दिया है, मैंने तो आपसे कुछ मांगा नहीं था?”

मृत्युदेव अजब धर्मसंकट में जा फंसे। फिर बोले—“प्रिय नचिकेता! तुम यौवन की दहलीज पर पहुंचे ही हो, लम्बा जीवन तुम्हारे सामने है।

अरे भाई, ले जाओ धन-सम्पत्ति, जितनी चाहो, बड़े से बड़ा साम्राज्य मांग लो, ले लो रथ, हाथी, पुत्र, पौत्र और साथ में ले जाओ देवदुर्लभ रमणियां! मांग लो अक्षय यौवन, अक्षय धन, अक्षय कीर्ति, पर आत्मतत्त्व के ज्ञान को लेकर क्या करोगे? यह तुम्हारे किसी काम का नहीं। यह जानकर क्या करोगे कि मरणोपरान्त आत्म रहती है या नहीं? इसे मत मांगो।” किन्तु दृढ़व्रती वज्रसंकल्पवान नचिकेता पर कोई सम्मोहन काम न कर सका। बोला, “यमराज! मुझे तो जीवन और मरण का रहस्य ही जानना है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। देना हो तो दो अन्यथा मैं कहूंगा कि मृत्यु का अधिष्ठाता झूठा है, डरपोक है।”

यम देवता ने बहुत चेष्टाएं कीं, नाना प्रकार से भयभीत करने का प्रयत्न किया और विविध प्रकार के प्रलोभन दिए, किन्तु नचिकेता पर कोई प्रभाव नहीं। वह कहता रहा, “वरस्तु मे वरणीय एव’-मैं चरम सत्य की खोज में निकला हूं, उससे कम कुछ नहीं चाहिए। कोई सौदेबाजी नहीं करनी है। बोलिए मृत्युदेव, बताते हैं कि नहीं? आज आप मेरी पकड़ में हैं। यह अवसर तो पुनः कभी मिलेगा नहीं।” संसार को भयभीत करने वाले परम प्रतापी यमराज को अपने ही वचन के पाश में जकड़ दिया था नचिकेता ने। अतः उसने कह दिया—“सृष्टि के इस चरम रहस्य को जाने बगैर मैं टलने वाला नहीं।” उपनिषद् साक्षी है कि नचिकेता विजयी हुआ था और यमराज पराजित। मृत्यु के रहस्य को जानकार ही वह लौटा था। मरणपथगामी नचिकेता ‘नाचिकेत अग्नि’ के रूप में अमर हो गया।

तो ऐसा था नचिकेता, कठोपनिषद् का नायक! धीर, उदात्त, निर्भीक, विजिगीषु, निर्लोभ, परम जिज्ञासु, सत्यान्वेषी, जीवन-मूल्यां के लिए प्रतिबद्ध, अन्याय एवं अधर्म के विरुद्ध संघर्षरत, मरणधर्मा किन्तु अमरत्व का साधक।

भारतीय वाङ्मय में अनीति के विरुद्ध मुखरित होने वाला सर्वप्रथम स्वर यदि कोई है तो वह है नचिकेता द्वारा अपने पिता उद्दालक से

किया गया प्रश्न-‘तत् कस्मै मां दास्यसीति’?-व्यवस्था में पनप रहे कदाचार को चुनौती दे सकने वाले युवकोचित सामर्थ्य का ऐसा हृदयस्पर्शी वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। इतिहास के शैशव के दिनों में जब पिता-मां की सत्ता के विरुद्ध मुंह खोलना भी गुरुतर अपराध माना जाता था, तब उन दिनों ऋषिपुत्र नचिकेता ने अपने पिता के नियमविरुद्ध एवं स्वार्थपूर्ण आचरण को ललकारने का अद्भुत साहस प्रकट किया था। उद्दण्डता या अहंमन्यता के अतिरेक में नहीं, किन्तु शालीनता, संयम एवं दृढ़ता की आधारशिला पर खड़े होकर ही नचिकेता ने अन्याय को अनावृत करने की चेष्टा की थी। और क्या नचिकेता के उपाख्यान से यह पता नहीं चलता कि स्थापित व्यवस्था के कदाचार को ललकारने का मूल्य सदैव मृत्युपथगामी बनकर ही चुकाना पड़ता है। स्थापित व्यवस्थाओं का धर्म सदा से वही रहा है कि यदि उनके निहित स्वार्थों पर कहीं से भी किञ्चित् मात्र आघात होगा तब वे उस प्रवृत्ति को प्रारम्भ में ही जड़मूल से कुचल डालने का यत्न करेंगी। नचिकेता ने विद्रोह का घोष किया था। भले ही उसका स्वर संयत रहा हो, भले ही उसका आचरण संयमशील एवं अनुशासन की मर्यादा में बंधा रहा हो, पर उतना भी तो उसके पिता ने सहन नहीं किया। तभी तो नचिकेता के प्रश्न को सुनकर वे तिलमिला उठे। अपने पुत्र को भी उन्होंने नहीं बख्शा और कह दिया-‘मृत्यवे त्वा ददामीति’!-तू, नचिकेता, मुझे जानता तो है, मैं हूँ तेरा पिता उद्दालक ऋषि, स्थापित व्यवस्था का अंग। फिर भी तू मेरे निहित स्वार्थ पर आघात करता है, जा, तुझे मरना होगा।

अब यह बात दूसरी है कि युवक नचिकेता ने अपने साहस एवं सत्यनिष्ठ आचरण से पासा ही पलट दिया। यमराज से दो-दो हाथ करने में वह घबराया नहीं। मरण का वरण करने में उसके चरण कांपे नहीं। मृत्यु-मार्ग पर ढकेला गया नचिकेता अपने तेज से अमर बनकर लौट आया। जीवन-मूल्यों की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगाने का ऐसा ज्वलंत उदाहरण अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। ईसा और सुकरात से बहुत

पहले सत्य और न्याय की रक्षा के अपराध में नचिकेता को उसके पिता ने ही सलीब पर चढ़ा दिया था। और तब से आज तक नचिकेता शाश्वत युवक बनकर अन्याय और अत्याचार के विरोध में सलीब पर चढ़ता रहा है और मृत्यु को पराजित करते हुए अमरत्व का दिव्य संदेश सुनाता रहा है। मृत्युंजय नचिकेता से बढ़कर शाश्वत युवक की और कोई परिभाषा कहीं नहीं है। पर क्या मेरे देशवासी इसे जानते हैं?

उपनिषद् के नचिकेता की कहानी भले ही वहां समाप्त हो गई हो जहां मृत्युदेव ने आत्मतत्त्व की परिसमाप्ति पर 'सा काष्ठा सा परागति' का उद्घोष कर दिया था और इसके बाद कह दिया था, 'एतावदनुशासनम्' अर्थात् इससे परे अब कुछ कहना शेष नहीं रहा। यहां पहुंचकर शास्त्र समाप्त हो गए। मेरे पास देने को कुछ बचा नहीं। नचिकेता, अब जाओ। पर शाश्वत नचिकेता की कथा कभी समाप्त नहीं होती। वह तो नाना रूपों में सदा-सर्वदा प्रकट होती रहती है। विश्व के रंगमंच पर कोई देश, कोई समाज ऐसा नहीं है जहां शाश्वत युवक की अग्नि-साधना से अद्भुत ज्वालाओं ने अनीति और अन्याय को जलाकर खाक न कर दिया हो, जहां युवकों ने जीवन के चरमोत्कर्ष की प्राप्ति के लिए अखण्ड कर्म न किया हो, जहां सृष्टि के रहस्यों का उन्मीलन करने की उत्कट ज्ञान-पिपासा शांत करने में उन्हें मृत्युदेव का साक्षात्कार न करना पड़ा हो। और भारत, भारत तो नचिकेता की जन्मभूमि है, यहां तो 'परित्राणाय साधूनाम्' एवं 'विनाशाय च दुष्कृताम्' के लिए शाश्वत युवक बारम्बार अवतरित होता रहा है।

विस्तृत इतिहास की कथा लिखने का न तो समय ही है और न स्थान ही। बहुत लम्बा लेख तो नवयुवकों को सुहाता भी नहीं। आखिर उन्हें तो बहुत से काम करने हैं, कोई निठल्ले पेंशनयापता बूढ़े तो वे लोग हैं नहीं कि जिसके पास लम्बे-लम्बे ऊबाऊ लेख पढ़ने के लिए ढेरों समय बचा रहता हो। अतः जो कुछ कहना है संक्षेप में ही कहने की चेष्टा करूंगा।

संसार में रोग, बुढ़ापा और मृत्यु से पीड़ित आर्तजनों को देखकर एक बार फिर भरी जवानी में चल दिया था सत्य की खोज में, अन्तिम उत्तर की तलाश में, शाश्वत युवक की तरह सिद्धार्थ, और बनकर लौटा था तथागत बुद्ध! आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के बाद अपने शिष्य आनन्द से कह गया था, 'अप्पो दीपो भव'-अपने दीप स्वयं बनो। आनन्द शाश्वत युवक अपना मार्ग स्वयं खोजता है। किसी का आसरा नहीं ताकता। अपने तप से अपना भविष्य निर्माण करता है। और उससे भी पहले निकला था वैसा ही शाश्वत युवक वर्द्धमान, मदमाते यौवन के सारे सुखोपभोगों से मुंह मोड़कर सृष्टि का भेद समझने एवं मानव की पीड़ा हरने का उपाय ढूंढने और महावीर के रूप में विश्व को क्षमा, अहिंसा एवं प्रेम का स्वर्गिक संदेश सुना गया। निहित स्वाधे ने कम नहीं सताया था ऐसे तपस्वियों को। भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए निकला अखण्डकर्मा कालड़ी में जन्मा वह शंकराचार्य 'चरैवेति-चरैवेति' मंत्र का अनुपम साधक कुल बत्तीस वर्ष की आयु में ही समग्र भारत को एकता के सूत्र में गुम्फित कर गया था एवं वेदान्त दर्शन की विजय-पताका दिग्दिगन्त में फहरा गया था। कहां-कहां नहीं गया वह। कन्याकुमारी से हिमालय तक, द्वारिका से जगन्नाथ तक-सभी दिशाओं में तो उसने गुंजरित कर दिया था उपनिषदों का दैवीगान 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि'। यही तो था वह उपदेश जो मृत्युदेवता ने नचिकेता को सुनाया था। और कुमारिल भट्ट! उसके रूप में भी तो नचिकेता ही जन्मा था। प्रश्न था-'वैदिकी संस्कृति को उद्धरिष्यसि'? कुमारिल ने उत्तर दिया था, "मैं करूंगा इस पवित्र धरोहर का उद्धार" और नचिकेता की ही भांति कहा था-"कार्यं साध्यामि वा शरीरं पातयामि"-कार्यं सिद्ध करूंगा या फिर मृत्युदेव का आलिङ्गन कर लूंगा।

हां, यह सब तो काफी पुरानी बातें हैं, फिर भी नचिकेता के समय की तुलना में तो नयी हैं। पर हमारे आज के युग के संदर्भ में तो बहुत

ही पुरानी हैं न! तो कुछ और नजदीक का इतिहास देख लें।

सोलह वर्ष का किशोर ही तो था शिवाजी जब अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध उसने अपनी कमर कस ली थी। भारत-भूमि पर विदेशी शासन आखिर कैसे सहन किया जा सकता है? हिन्दू पद पादशाही की स्थापना का संकल्प लेकर वह युवक निकल पड़ा था सिर पर कफन बांधकर! और कैसी नैतिकता उसके जीवन में प्रकटी थी, जब शिवाजी की सेना में पराजित मुस्लिम शत्रुओं के परिवार की महिलाओं को उनके पास भेजा तब शिवाजी ने कहा था—“काश! तुम मेरी मां होतीं, तब मैं कितना सुन्दर हुआ होता।” और फिर सम्मान के साथ उन्हें वापस पहुंचा दिया था, इसी शिवाजी ने स्थापित कर दिखाया था अपना एक ऐसा साम्राज्य जो प्रभु रामचन्द्र को समर्पित था और जिसके तेज से कांपती थी दिल्ली की बादशाहत!

सिख गुरुओं को ते सब जानते ही हैं, उनका जीवन तो ‘नाचिकेत अग्नि’ की साधना की उज्वलतम एवं अनोखी परम्परा है। एक दिन गुरु तेगबहादुर ने कहा था कि आज पंथ की रक्षा के लिए उत्तम बलिदान की आवश्यकता है तो उनके पुत्र ने कहा, “पिताजी, आपसे बढ़कर श्रेष्ठ कौन है?” बस दे डाला सीस उस मतवाले ने। क्या भूल गए गुरु गोविंद सिंह के तो चारों बच्चे कच्ची उम्र में ही देश और धर्म की रक्षा के लिए बलिवेदी पर हंसते-हंसते जा चढ़े थे। नहीं, अजीत और जुझार का दीवार में चुना जाना कौन भूल सकता है? वे तो साक्षात् नचिकेता ही थे। पर क्या इन घटनाओं को इतिहास की कक्षाओं में उचित मार्यादा के साथ पढ़ाया जा रहा है? क्या राणा प्रताप और राजस्थान के बच्चे-बच्चे में, वहां के कोल और भीलों के हृदयों में सुलगती देशप्रेम की वह ज्वाला ‘नाचिकेत अग्नि’ का ही रूप नहीं थी? क्या दुर्गावती का पराक्रम तथा पद्मिनी और उस जैसी लाखों वीरांगनाओं के जौहर उसी अग्नि की ही साधना में से नहीं जन्मे थे? पर जो नचिकेता को नहीं जानते, नाचिकेत अग्नि को जो नहीं पहचानते, वे कैसे पढ़ाएंगे इन

सब घटनाओं को और कैसे समझाएंगे इनका रहस्य? और मेरे देशवासी कैसे जान पाएंगे शाश्वत युवक को, उसकी प्रेरणाओं को, उमंगों को, उफनते हुए शौर्य को, उत्कट जिज्ञासा और आत्मत्याग को।

भारत का पुराना इतिहास ही नहीं, नया इतिहास भी शाश्वत युवक के पराक्रम की गौरवमयी कहानी कहता है। संक्षेप में कहना है न, इसीलिए बहुत कुछ लिखना चाहते हुए भी लिखा नहीं जा सकेगा। बाल गंगाधर तिलक ने बी.ए. पास किया था सन् 1876 में। उनके साथ थे गोपाल गणेश आगरकर और महादेव बल्लाल नामजोशी। तीनों ही मेधावी छात्र थे एवं स्नातक परीक्षाओं में अच्छा स्थान प्राप्त कर चुके थे। उन दिनों बी.ए. पास होते ही और जरा-सी-शासन-भक्ति दिखाते ही मानो चांदी की चाभी हाथ आ जाती थी। डिप्टी कलेक्टर तो ऐसा आदमी चुटकी बजाते ही बन जाता था। पर इन तीनों ने तो व्रत ले लिया था देश की आजादी प्राप्त करने का। तिलक ने तेईस वर्ष की अवस्था में ही यह कंटक पंथ अपना लिया था। सच तो यह है कि इन तीनों मित्रों ने ही अपने स्वर्णिम भविष्य के, सुख और समृद्धि के, सुरक्षा एवं सम्पन्नता के समस्त लोभ और मोह को टुकरा दिया था। यमराज ने कहा था नचिकेता से-ले जाओ कामिनी-कंचन और कीर्ति का अक्षय भंडार पर मत मांगो चरम सत्य का ज्ञान। अंग्रेजी राज ने भी इन तीनों से कहा था, “अरे युवकों, ले लो अफसरी, करो मौज और चलाओ हुकूमत अपने देशवासियों पर, लेकिन मत उठाओ आजादी का सवाल।” पर न ही नचिकेता ललचाया जा सकता और न ही फुसलाए जा सके थे तिलक, आगरकर और नामजोशी।

उसी समय आगरकर ने अपनी मां को लिखा था, “मां! संभवतः तुमने सपना संजोया होगा कि स्नातक बनने के बाद मैं ऊंची तनख्वाह पर नौकरी कर लूंगा और सुख-चैन का जीवन बिताऊंगा। पर मैं आज तुम्हें लिख रहा हूँ कि वह सब मैं करने नहीं जा रहा। मुझे धन की कोई तृष्णा नहीं। मैं तो बस उतना ही स्वीकार करूंगा जितना कि

शरीर-धारण के लिए जरूरी है। मैंने दक्षिण कॉलेज की एक छोटी-सी छात्रवृत्ति स्वीकार कर ली है।” क्या देशवासियों को पता है कि तिलक, आगरकर और नामजोशी ने 1876 में उच्च शिक्षा के बावजूद मात्र पचहत्तर रुपये की स्वदेशी वृत्ति स्वीकार की थी और परायी सरकार के सैकड़ों रुपये ठुकरा दिए थे। ये तीनों इकट्ठे रहते थे एक ही बाड़े में सपरिवार और इकट्ठे ही देखते थे सपने भारत की स्वाधीनता के। ‘स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है’, यह चरम सत्य था जिसको बताने निकल पड़े थे तिलक और कारावास, देश-निकाला, क्या कुछ नहीं सहा उन्होंने पर अंत तक समझौता किया नहीं। उन्होंने उच्च स्वर में उद्घोष किया था गीता रहस्य का, कर्मयोग के सिद्धांत का। शाश्वत युवक की ओजस्विनी वाणी ने लक्षाधिक युवकों को सम्मोहित कर दिया था। गगन भर उठा था कोलाहल से, दिशाएं गूँज उठी थीं एक ही स्वर से—“स्वराज्य लेकर ही रहेंगे।”

शाश्वत युवक की कहानी अधूरी रह जाएगी, अगर सावरकर का उल्लेख न करूं तो। कभी सुना है एक ही व्यक्ति को दो-दो बार आजीवन कारावास का दण्ड। पर सावरकर को सुनाया गया था सारी सम्पत्ति को जब्त किए जाने एवं दो आजीवन कारावासों का दण्ड। और दोनों कारावास एक के बाद दूसरे को भुगतने का आदेश था। यह था निहित स्वार्थों पर आघात करने का फल। भारत में अनैतिक ब्रिटिश साम्राज्यवाद की दुर्नीति का विरोध करने का परिणाम। क्या-क्या नहीं भोगा है, सावरकर ने सत्य की राह में और आजादी की चाह में। काले पानी की सजा, कोल्हू में बैल की तरह जोते जाना; और भी न जाने कितनी तरह के अमानुषिक अत्याचार सहे थे इस परिवार ने, सभी भाइयों ने। क्या देशवासी भूल गए जब सावरकर बम्बई की डोंगरी से अंडमान ले जाए जा रहे थे तब उन्होंने अपनी पत्नी को लिखा था, “हमने अपने घर के चूल्हे की आग स्वयं ही इसलिए बुझा दी है ताकि कल हजारों देशवासियों के चूल्हे सोने का धुंआ उगले।” और लिखा

था उन्होंने स्वाधीनता की देवी के नाम-

For thy sake death in life,
 Without thee life is death,
 Deathless is the family that falls to a man,
 For the emancipation of its motherland,
 Filling the skies, with the fragrance of their sacrifice
 Made in the welfare of Man's rise.

कहां है मृत्यु का भय उस व्यक्ति को, उसके परिवार को, जो दासता के बंधनों से जकड़ी मातृभूमि के मुक्ति-यज्ञ में प्राणों की आहुति डालकर दिग्दरांत को सुवासित कर देता है मानव-कल्याण के लिए समर्पित इस बलिदान की सुगंध से। नचिकेता ने भी तो यही कहा था, “कहां है मृत्यु का देव, मैं आया हूँ उससे मिलने और चरम लक्ष्य को प्राप्त करने।” पर आज तो जिन परिवारों की यश-पताका फहराई जा रही है, जिनकी विरुदावलियां रची जा रही हैं और जिनका प्रशस्तिगान किया जा रहा है दूरदर्शन और आकाशवाणी से, वे परिवार कभी अंडमान की जेल में नहीं रहे, कभी कोल्हू में नहीं जोते गए। वे नचिकेता को नहीं जानते और न ही जानते हैं उसके द्वारा यमराज को पराजित किए जाने का उपाख्यान।

ओ रे ओ, मेरे देशबंधुओ! क्या तुम्हें पता है कि जब सावरकर विदेशों में भारतीय स्वातंत्र्य की अलख जगाते थे तब उनसे मिलने आया करते थे डीवेलेरा और लेनिन सदृश यूरोपीय शाश्वत युवक। कैसी थी वह आग जो इन लोगों के हृदयों में धधक रही थी? वही थी “नचिकेत अग्नि”। संसार में अत्याचार, अन्याय और शोषण को भस्मसात करने के लिए उसी का तो आवाहन करना पड़ता है।

भारतीय स्वातंत्र्य के संघर्ष के दिनों में तो मानो नचिकेता ने घर-घर में अवतार ले लिया था। चाफेकर बंधु, मदनलाल धींगड़ा,

चन्द्रशेखर आजाद, अशफाक उल्लाह खां, भगत सिंह, राजगुरु ऐसे कितने ही नाम हैं जिनके अस्त्रों से 'नाचिकेत अग्नि' की ज्वालाएं फूटी थीं ब्रिटिश साम्राज्यवाद को भस्म करने के लिए। सबके लिए परम गोपनीय रहस्य था 'स्वाधीनता'। उसे हर कीमत पर प्राप्त करना ही है। उससे कम में कोई समझौता नहीं, कोई तर्क-वितर्क नहीं। बालक, बालिकाएं, युवक, युवतियां मानो मृत्युदेव को ललकारने की होड़ लगाए थीं। प्रीतिलता मर गई थी विष खाकर क्योंकि अंग्रेजों के अपवित्र हाथों का स्पर्श उसे सहन नहीं था। मरने से पहले अपनी मां को लिख गई थी—“मां, तुम क्या चुपचाप पराधीनता का अत्याचार सहती रहोगी? क्या अपनी एक संतान मुक्ति के लिए उत्सर्ग नहीं कर पाओगी? मैं तो स्वदेश जननी की आंखों के आंसू पोंछने के लिए अपना रक्त देने जा रही हूँ। मुझे आशीर्वाद दो।” शांति और सुनीति दोनों आठवें दर्जे की छात्राएं थीं। मजिस्ट्रेट-स्टीवेन्स को गोली मारने के अपराध में दोनों को आजीवन कारावास का दण्ड मिला। फैसला सुनकर उन्होंने यह क्यों कहा था—“इससे तो मृत्यु ही अच्छी रहती!” मरकर फिर से जन्म लेने का अवसर तो मिलता और फिर से स्वाधीनता के यज्ञ में आहुति देने का सुयोग होता।” और वह बीनादास गुप्ता, बी.ए. की उपाधि लेने जाते समय गवर्नर पर गोली चलाने वाली, साक्षात् दुर्गा का अवतार। नौ वर्ष तक कठोर कारावास भुगता था उसने। आज भी हमारे देश में, दिल्ली में, कलकत्ता में, बम्बई में—सभी शहरों में अनेक प्रीति, शांति, सुनीति और बीना घूमती-फिरती नजर आती हैं। पर क्या उन्हें इस वर्ष हम बताएंगे कि इस देश की लड़कियां अभी पचास-साठ वर्ष पहले तक कैसी हुआ करती थीं?

न चाहते हुए भी लेख तो लम्बा होता ही जा रहा है, पर प्रद्योत भट्टाचार्य के मृत्युदेव से साक्षात्कार को लिखे बिना तो शाश्वत युवक की कथा कहना निरर्थक ही रहेगा। फांसी चढ़ने से पहले जो चिट्ठी उसने अपनी मां को लिखी थी उसके कुछ अंश लिखने का लोभ

संवरण करना तो बहुत कठिन है। प्रद्योत ने लिखा था-

“मां! तुम शायद नहीं जानती हो कि तुमने अपनी ही जरूरत के लिए हमें रचा है। मैं तुम्हें बता रहा हूँ कि हजारों वर्षों तक हम लोग माताओं के मन में रचे जाते चले आ रहे हैं, आज हम धीरे-धीरे प्रकट हो रहे हैं।

“मैं तो हमेशा से जानता हूँ कि तुम बंगाल हो और मैं बंगाली हूँ-एक ही पदार्थ, जिसे मैं अलग करके सोच ही नहीं सकता हूँ। युगों से तुम अपमान, लांछना और अत्याचार सह रही हो, गूंगी गाय की तरह जमीन पर मुंह के बल गिर पड़ी हो, मार खा रही हो। उसी के विरुद्ध जो तुम्हारे हृदय में विद्रोह की ज्वाला धधक रही है, वही विद्रोह मैं हूँ।

“मेरी आंखों के सामने तुम पर कोई अत्याचार करें और मैं पागलों की तरह उस पर झपट पड़ने के बजाय सोचने लग जाऊँ, इसमें मुसीबत कितनी आ सकती है, अकेला इतनों से जूझ सकूंगा या नहीं? या फिर पास के थाने में जाकर खबर करूँ, उसके बाद भागे हुए अपराधी को पकड़वाकर जेल पहुंचा दूँ या न जाने यह समझौता सम्मानजनक होगा कि नहीं, अगर अपराधी पकड़ा न जा सका तब किस अखबार में उसकी तीव्र आलोचना करते हुए लेख प्रकाशित हो सकता है” इत्यादि बातें सोचकर अपनी बुद्धिमत्ता और धैर्य का परिचय भले ही दे डालूँ लेकिन इसी के साथ क्या तुम्हारा मातृ हृदय यह कहकर धिक्कारेगा नहीं कि बचपन में ही दूध के साथ जहर क्यों नहीं खिला दिया था इसे मैंने।

“ज्यादा क्या कहूँ? जीवन में अनेक आशाएं थीं। सोचा था देशभर में अपने आदर्श को कण-कण में फैला दूंगा, नवयुग में कुसंस्कारों से मुक्त होकर जाति और समाज को नया रूप दूंगा। बिल्कुल ही नये समाज का गठन करूंगा, सारी ग्लानि, सारी गंदगी धो-पोंछकर साफ कर जाऊंगा।

“लेकिन मनुष्य का जीवन भी खूब है! एक बुलावा आया है और

मुझे जाना ही होगा! मां, तुम्हारा प्रद्योत क्या कभी मर सकता है? मैं जीवित और अमर रहूंगा, मां! वन्दे मातरम्!”

सचमुच, नचिकेता कभी नहीं मरता, न ही मरा करता है प्रद्योत और न ही मरते हैं मदनलाल धींगड़ा जैसे कर्मवीर। अदालत में मदनलाल ने कुछ बयान दिया था, उसे सुनकर लायड जार्ज ने चर्चिल से कहा था, “कोर्ट में दिया गया मदनलाल का वक्तव्य देशप्रेम का सबसे श्रेष्ठ और उज्ज्वल प्रमाण है। इसकी तुलना हो सकती है सिर्फ प्लूटार्क जैसे मृत्युंजयी वीरों के साथ।” मालूम है क्या ये सब बातें हमारे देश के आज के कर्णधारों को!

बीसवीं शताब्दी में एक बार पुनः हमारे देश में नचिकेता की कथा दोहराई गई थी। इस बार निष्कासित किया गया था सुभाष बोस को कांग्रेस से। वही, स्थापित सत्ता के तौर-तरीके के विरोध के अपराध में। इतना दुस्साहस कि सुभाष बापू की इच्छा के विरुद्ध कांग्रेस का अध्यक्ष चुना जाए! उसकी यह मजाल कि वह महात्मा गांधी की कार्य-प्रणाली पर प्रश्न-चिन्ह लगाए। कांग्रेस में स्थापित सत्ताधारी गुट सुभाष के सीधे-सच्चे रास्ते से किस कदर तिलमिलाया था? कह दिया था उन सबने, “जा दूर हट, कांग्रेस से निकल-मृत्युवे त्वां ददामीति”, यही तो गांधी ने सुभाष से कहा था। पर शाश्वत युवक सुभाष के हृदय में तो नाचिकेत ज्वालाएं धधक रही थीं। मरण व्रत ठानकर वह निकल भागा ब्रिटिश फौज, पुलिस, सभी की आंखों में धूल झांकर सिनोर आरलैंडों मैजोर्टा का नाम धारण करा। फिर एक दिन सारी दुनिया ने रेडियो पर उसकी वाणी सुनी थी, “चलो दिल्ली, लाल किला फतह करो, तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हे आज़ादी दूंगा।” यह थी शाश्वत युवक की वाणी, ‘चलो, आगे बढ़ो, डरो मत, मृत्यु का अधिष्ठाता तुम्हारा बाल भी बांका नहीं कर सकता, चरम लक्ष्य को प्राप्त किए बिना कोई समझौता नहीं। पूर्ण स्वराज्य से कम कुछ भी नहीं चाहिए। कोई क्यों नहीं याद दिलाता मेरे देश के युवकों को-सुभाष ने आई.सी.एस. परीक्षा में उत्तीर्ण होकर

उसे लात मार दिया था-मातृभूमि की सेवा के लिए। श्यामजी कृष्ण वर्मा, रासबिहारी बोस, अरविंद घोष, सभी तो उसी मृत्युपथ के पथिक थे। यमराज भी इनके नाम से थरता था। एक नाम और है, जिसे बताना तो बहुत जरूरी है, रा. स्व. संघ के संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार, जिसने मंत्र दिया, “परम वैभव नेतमेतत्स्वराष्ट्र” और जो कहा करता था-“याची देही, याची डोला”, इसी शरीर से, इन्हीं नेत्रों से भारत मां को परम वैभव के शिखर पर आसीन देखना है। उनकी आजीवन साधना नाचिकेत अग्नि की अभिनव साधना थी।

कहां तक गिनाऊं, जीवन के हर क्षेत्र में तो नचिकेता के अनुयायी भरे पड़े हैं। तेईस वर्ष की आयु में आर्यभट्ट ऐसा कुछ कर गया था जो गणित और ज्योतिष में अद्वितीय है। रामानुजम् तो सोलह-सत्रह वर्ष में ही चमत्कारी गणितज्ञ बन गया था। देश का ऐसा कौन-सा कोना बचा है और कौन-सा क्षेत्र जहां शाश्वत युवक के दर्शन न होते हों, जहां उसकी चरणरज न पड़ी हो। प्रातः स्मरणीय चेनम्मा, वह सुब्रह्मण्य भारती, वह चिदम्बरम, वह विवेकानन्द, सभी तो उस नाचिकेता अग्नि के जाज्वल्यमान स्फुल्लिंग बनकर चमके थे। एक-एक प्रदेश के ऐसे नाम ही लिखने बैटू तो पृष्ठ के पृष्ठ रंग जाएंगे। और फिर ऐसे भी तो अनगिनत युवक-युवतियां हैं जिनके नाम याद नहीं हैं। उनकी संख्या कैसे बताऊं! कौन बताएगा आज भारतवासियों को, आज जो हम अपने को स्वाधीन कहने लायक बन सके हैं, विश्व भर में सिर उठाकर घूमने-फिरने की हालत में पहुंच पाए हैं, यह स्वतंत्रता, यह प्रतिष्ठा उन नचिकेताओं की समाधि पर टिकी है जिन्होंने कभी अपने त्याग और बलिदान का बहीखाता नहीं बनाया। जिन्होंने दान का कभी प्रतिदान नहीं चाहा और न ही मांगी पेंशन, ताम्रपत्र, आरक्षण कोटा-परमिट। और जो मात्र एक आवाहन गीत सुनकर चल दिए थे, जो सीना खोलकर अत्याचार सहते रहे थे पर झुके नहीं थे, जो मृत्यु की गर्जन में दिव्य संगीत की तान सुन रहे थे, जिन्होंने मां की पराधीनता की असह्य

वेदना को भोगा था और जो चल पड़े थे मृत्युपथगामी बनकर यमराज से जवाब तलब करने “बताओ स्वाधीनता कब मिलेगी; कहां मिलेगी?” विश्व के इतिहास में इस आत्माहुति की कोई मिसाल नहीं है, पर भारत के इतिहास में तो इस सबका ठीक से उल्लेख तक नहीं है।

‘अन्तर्राष्ट्रीय युवा वर्ष’ में क्या हम उन्हें स्मरण करेंगे? क्या उनका उपकार मानेंगे? क्या कम-से-कम उनकी याद में दो बूंद आंसू गिरा सकेंगे? क्या हमारे पास उनकी आत्मा की शांति के लिए मौन रखने के लिए दो क्षण बचे हैं? क्या हम उन लाखों शाश्वत युवकों को, जिन्होंने स्वाधीनता की देवी की अराधना में हंसते-हंसते सब कुछ उत्सर्ग कर दिया था, प्रणाम कर पाएंगे इस वर्ष? कर सकें तो अच्छा ही होगा।

कोई यह न समझे कि अब इस देश में नाचिकेता अग्नि प्रियमाण हो गई है। अभी दस वर्ष पहले ही तो यह धधक उठी थी देश के संविधान और मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए। जब युवाशक्ति ने प्रश्न किया था कि सत्ता में स्थापित लोग भ्रष्टाचार को संरक्षण क्यों दे रहे हैं? प्रधानमंत्री का चुनाव अवैध घोषित होने पर भी वे सत्ता से क्यों चिपकी हैं? नाचिकेता तब मुखरित हुआ था—जयप्रकाश की वाणी में और तब स्थापित सत्ता पर अधिष्ठित निहित स्वार्थी तत्त्व इन प्रश्नों से तिलमिला उठे थे। इसी आवाज को कुचलने के लिए ही तो आपातकाल की घोषणा की गई थी। पर शाश्वत युवक ने इस चुनौती को स्वीकार किया था। उसके दमन के लिए शासन ने मौलिक अधिकारों पर ग्रहण लगाकर राक्षसी अधिनियम बना दिए थे। लाखों लोग कारावास में बैठा दिया गए थे पर क्या वह शासन रोक पाया था युवाशक्ति के ज्वार को? सारा क्रूर दमन भी असफल रहा उस नाचिकेत अग्नि को शीतल करने में। और फिर वही हुआ जो होना था। जनतंत्र लौटा, अत्याचारी शासन का पराभव हुआ। यह सब तो अभी हाल ही की घटनाएं हैं? यह तो याद होंगी या इन्हें भी भूल गए हम लोग!

पर जब सत्ता का परिवर्तन हुआ, तब क्या हुआ? नाचिकेता पुनः

निर्वासित कर दिया गया। परिवर्तन की उस पुण्य वेला में किसे आशा थी कि निहित स्वार्थी तत्त्व सदा की भांति इस बार भी नचिकेता से यह कहने की स्थिति में आ जाएंगे कि “मृत्यवे त्वां ददामीति” और इतिहास साक्षी है नचिकेता आज भी जीवित है, पर वे निहित स्वार्थी तत्त्व ध्वस्त हो गए। सोचता हूं, शायद आज के युग में सत्ता का यही धर्म है, शायद वह अब निहित स्वार्थी को ही पोषित करती है, शायद वह कुछ लोगों द्वारा बहुतों के विरुद्ध रची गई एक भयानक दुरभिसंधि का रूप लेना ही पसंद करती है।

कभी-कभी ऐसा लगता है कि बार-बार मर जाने के शाप को सहन करते-करते कहीं सचमुच ही नचिकेता का लोप न हो जाय। पर जब उपनिषद् पढ़ता हूं तब मन को ढाढ़स मिलता है। कठोपनिषद् का सार तो यही है कि मृत्युपथ पर ढकेला गया नचिकेता अमरत्व का संदेशवाहक बनकर लौटा। नचिकेता चिरंजीवी है। उसे कोई मार नहीं सकता। शाश्वत युवक ही तो राष्ट्रों का प्राण है, वही तो उनकी गतिमत्ता है, स्फूर्ति है, चेतना है, ओज है, प्रज्ञा है। लाख यत्न करने पर भी कोई उसे नष्ट नहीं कर सकता। उसे नष्ट करने की चेष्टाओं से इतिहास भरा पड़ा है, आगे भी उसे निष्प्राण करने के षड्यंत्र रचे जाएंगे। परन्तु प्रह्लाद की भांति वह न तो पहाड़ से ढकेलने पर मरेगा और न ही अग्नि में जलाया जा सकेगा। इतिहास का सत्य यही है कि जो नचिकेता को नष्ट करने की दुरभिसंधि करेगा वह स्वयं नष्ट हो जाएगा। नचिकेता तो नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की भांति नये-नये रूपों में प्रकट होता रहेगा। देश में जगह-जगह सत्ता के स्थानों पर जमे हुए जराजीर्ण उद्दालकों की समझ में यह बात अच्छी तरह आ जानी चाहिए कि वे नाशवान हैं, मृत्यु का देवता उनके स्वागत के सब प्रबंध कर चुका है, पर नचिकेता अजर है, अमर है। और यह भी समझ लें वे कि अब युग बदल गया है, यह जरूरी नहीं कि नये युग की स्थापनाएं वही रहें जो उपनिषद् काल में थीं।

पराधीन भारत को बंधनमुक्त कराने में युवाशक्ति के अद्भुत उत्सर्ग की जो गौरव-गाथा आज देशवासियों से छिपाई जा रही है, आइए, उसे उच्च स्वर में सुनाकर देश के कोने-कोने में फैला दें-बता दें शाश्वत युवक को कि यह स्वाधीनता अभी अधूरी है। करोड़ों भारतवासी अभी कंगाली का नरक भोग रहे हैं, अस्पृश्यता और अभाव की वेदना झेल रहे हैं। यह पीड़ा पराधीनता की वेदना से कम तीखी नहीं है। और चलो, बताएं इसे यह भी कि यह सब एक ऐसी चालाकी का परिणाम है जिसके द्वारा सिर्फ थोड़े लोगों के सुख और एय्याशी के लिए बहुतों को वंचित एवं अभावग्रस्त रखा जा रहा है। शोषण की एक ऐसी प्रणाली प्रचलित कर दी गई है जिसमें से निकलने के सभी रास्ते धीरे-धीरे बंद होते जा रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चलने वाला यह व्यापार जिस दुरभिसंधि से जन्मा है उसके मूल पर आघात किए बिना स्वाधीन मानव का निर्माण असंभव है। जाग, नचिकेता, जाग, सदा की भांति विश्व को नये जीवन का संदेश सुना। बता दे, करोड़ों लोगों को भूखे, नंगे, अशिक्षित और रोगी बनाए रखने की यह चालाकी अब बहुत दिनों तक चलने वाली नहीं है। सुन, गुरुदेव टैगोर ने तेरे लिए क्या कहा था-

“नवजीवनेर प्राते

नवीन आशार खड़गो तोमार होते,

जीनों आवेश काटो सुकठोर घाते,

बन्धन होंक क्षय, तोमारी होक जय।”

(नवजीवन के प्रभात में तुम्हारे हाथों में आयी है नयी आशा की खड़ग। इसे लेकर अपनी दृढ़ भुजाओं से तुम कमजोर आवेश के बंधन काट डालो। बन्धन टूटे निर्धनता के, अभाव के, अशिक्षा के, अस्पृश्यता के और हे नचिकेता! विश्व-गगन तुम्हारी जयगान से गूँज उठे।)

भारत के शाश्वत युवक की ऊर्जा में मेरा दृढ़ विश्वास है। विश्व के किसी भी देश के युवकों की तुलना में वे किसी से पीछे नहीं हैं। पर जिस चतुराई से हमने उन्हें राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रियाओं से दूर रखा

है वह भी बेमिसाल है। इतनी बड़ी सृजनात्मक शक्ति की उपेक्षा के बाद हम नवनिर्माण की आशा कैसे कर सकते हैं? क्या हम कन्नड़ कवि नवोदय की भांति नहीं कह सकते-

“उठ रे तरुण!

विश्वास की क्रांति आज तेरे मुख पर,

नयनों में असाधारण तेज,

ललाट पर भव्यता,

चिबुक पर दिव्यता,

अधरों में आदेश,

शक्ति है इन दीर्घ भुजाओं में जो तोल लें नवखण्ड,

उन्मुक्त हैं तेरे चरण

उठ रे तरुण

अपना राज्य कर!”

□

भारत में खगोलिकी

भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों में प्राचीन भारत के खगोल-संबंधी अध्ययनों का प्रथम सार्थक संपर्क तभी स्थापित हुआ जब अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में उन्हें संस्कृत साहित्य का महत्व ज्ञात हुआ। एशिया विषयक अनुसंधान के आरंभिक वर्षों में विलियम जोन्स, कोलब्रुक, डेविस तथा अन्य विद्वानों की खगोलिकी संबंधी विद्वतापूर्ण रचनाएं इस विषय में उनकी गहन रुचि का परिचय देती हैं। सन् 1786 में फ्रेंच खगोलज्ञ बेले ने 'इण्डियन एण्ड ऑरिएण्टल एस्ट्रानॉमी' नामक अपनी रचना में हिन्दुओं के इस विद्वत्ता को बहुत प्राचीन माना है। इस धारणा का खंडन करते हुए बेंटले ने 1823 में अपनी 'हिस्टॉरिकल क्यू ऑव हिन्दू एस्ट्रानॉमी' प्रकाशित की। उसका निष्कर्ष था कि इनमें से बहुत से प्राचीन सिद्धांत अकबर के समय में गढ़े गये। कोलब्रुक ने इसका तीव्र प्रतिवाद करते हुए प्रतिपादित किया कि यह निष्कर्ष निकालने में बेंटले ने जिस पद्धति का प्रयोग किया है, वह निराली है और बिल्कुल विश्वसनीय नहीं। इसके बाद ह्विटने ने 1860 में 'सूर्य सिद्धांत' (वैदिकोत्तर रचना) का सम्पादन और अनुवाद प्रकाशित किया और कहा कि भारतीय खगोलज्ञों में सही गणना की योग्यता नहीं थी। उसने कहा कि भारतीयों ने खगोल विद्या विदेशियों से, जो ग्रीक थे, उधार ली (क्योंकि गर्ग ने यवनों, अर्थात् ग्रीकों के

खगोल-संबंधी ज्ञान की प्रशंसा की है)। फिर 1903 में प्लंकेट ने अपनी महत्वपूर्ण रचना 'एशियेंट केलेण्डर्स एण्ड कॉन्सटेलेशन्स' में लिखा कि टियाना-निवासी अपोलोनियस के जीवन-चरित्र में भारतीय ऋषियों के खगोल ज्ञान की प्रशंसा की गई है।

वैदिक ग्रंथों का अध्ययन करते हुए प्रसिद्ध फ्रेंच खगोलज्ञ जे. बी. बिओ ने 1840 में यह स्थापित करने की चेष्टा की कि हिन्दुओं का नक्षत्र तंत्र चीनियों से उधार लिया हुआ है-केवल इस कारण कि ई.पू. 2357 के उनके ग्रंथों में इसका उल्लेख है। इसके विपरीत वेबर ने यह दिखाकर कि हिन्दुओं का नक्षत्र तंत्र चीनियों से कहीं प्राचीन है, चीनी ग्रंथों की प्राचीनता पर ही प्रश्नचिन्ह लगा दिया। साथ ही द्विटने की इस राय से कि हिन्दुओं का बौद्धिक स्तर बहुत ऊंचा नहीं रहा, प्रभावित वेबर ने बहुत हल्के आधारों पर यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की कि हिन्दू ही नहीं, चीनियों और अरबों ने भी खगोल संबंधी अपना ज्ञान कहीं और, संभवतः वेबीलोनिया से प्राप्त किया। पेबो और इसके बाद प्रसिद्ध गणितज्ञ याकोबी ने वेबर की मान्यता की दुर्बलताएं स्पष्ट करते हुए दिखाया कि ऋग्वेद में खगोल-संबंधी उल्लेख बहुत प्राचीन, संभवतः ईसा से पांच हजार वर्ष पूर्व के हैं। लोकमान्य तिलक ने अपने ग्रंथ 'ओरायन' में भी इसी जैसा निष्कर्ष निकाला। अतएव इस विषय की प्राचीनता स्थापित करने के लिए वैदिक ग्रंथों में खगोल संबंधी लेखकों का सम्यक् विवेचन आवश्यक है। दुर्भाग्यवश इतिहासकार और वैज्ञानिक दोनों ने ही इस पक्ष की नितांत उपेक्षा की है।

इसका एक उदाहरण यहां प्रस्तुत है। शतपथ ब्राह्मण में कृत्तिका नामक तारापुंज के विषय में यह उल्लेख है, "कृत्तिका में दो अग्नियों का आधान किया जा सकता है। अन्य तारापुंजों में एक, दो, तीन या चार तारे होते हैं। इसलिए कृत्तिकाओं में ही अग्न्याधान करें। ये पूर्व दिशा से विलग नहीं होते, जबकि अन्य तारापुंज पूर्व दिशा से हट जाते हैं। पहले ये ऋचों की पत्नियां थे, क्योंकि पूर्व काल में सप्तर्षियों को

ऋच कहा जाता था। इनके लिए संगम का (पतियों) से निषेध था, क्योंकि सप्तर्षि उत्तर में उदित होते हैं और ये (कृत्तिकाएं) पूर्व में।

(कांड 2, अध्याय 1, ब्राह्मण 2)

इन श्लोकों में अन्य तारापुंजों, यथा मृगशिरा, पुनर्वसु, रोहिणी आदि का भी उल्लेख है।

अब इस कथन की खगोलविषयक जानकारी की दृष्टि से परीक्षा करें। यह कृत्तिकाओं संबंधी हिन्दुओं के ज्ञान का विवरण तो है ही, इससे यह भी पता चलता है कि इस काल के हिन्दू और भी अनेक नक्षत्रों के विषय में जानते थे और अवलोकन से ज्ञात उनकी विशिष्टताओं की भी जानकारी रखते थे। परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस वक्तव्य से शतपथ ब्राह्मण के इस अंश के लिखे जाने का समय ज्ञात होता है।

इन पंक्तियों में स्पष्ट कहा गया है कि कृत्तिकाएं पूर्व में उदित होती हैं और जहां अन्य तारापुंज पूर्व दिशा को छोड़ भी देते हैं, ये उसे नहीं छोड़तीं। तात्पर्य यह कि जिस समय यह बात अंकित की गई, तब कृत्तिकाएं विषुव रेखा शून्य अपक्रम पर उदित होती थीं। कृत्तिकाएं वर्ष भर दृष्टिगोचर होती हैं परन्तु इस समय वे उत्तर दिशा में चली गई हैं। यह स्थिति विषुव के अग्रगमन के कारण बनती है, और प्रतिवर्ष 50 सेकिंड के मंथर प्रतिगमन का परिणाम हो सकती है। इस परिवर्तन की एक-एक दिन की बिल्कुल सही गणना की जा सकती है, और बताया जाता है कि 3200 ई.पू. शून्य अपक्रम पर कृत्तिकाएं देखी गयी थीं। इससे स्पष्ट है कि शतपथ ब्राह्मण के ये अंश ईसा से कम-से-कम चौथी सहस्राब्दी के प्रारंभिक भाग जितने प्राचीन हैं। इस प्रकार हिन्दू नक्षत्र विद्या की प्राचीनता की न्यूनतम सीमा भी स्पष्ट निर्धारित की जा सकती है।

प्रश्न उठ सकता है कि चूंकि शतपथ ब्राह्मण खगोल विद्या का ग्रंथ नहीं है, इसलिए नक्षत्रों संबंधी उसके प्रेक्षण कहां तक सही हैं। कहना

न होगा कि उस समय कर्मकांड की बारीकियों को बहुत महत्व दिया जाता था और याजक-पुरोहितों के शिक्षण के लिए ही ब्राह्मण ग्रंथों की रचना की गई थी। इनमें कोई भी विषय तभी सम्मिलित किया जाता था, जब उसे अधिकारी विद्वानों की सहमति प्राप्त होती थी। अतएव शतपथ ब्राह्मण में वर्णित खगोल-विषयों के उल्लेख सही माने जाने चाहिए। सर जॉन प्लेफेयर, एफ.आर.एस. ने भारतीय पंचांगों पर अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ में आकाशीय अवलोकन की भारतीय कुशलता की प्रशंसा की है। 1790 में 'रिमाक्स ऑन दि एस्ट्रॉनॉमी ऑव दि ब्राह्मिन्स' नामक अपने निबंध में प्लेफेयर ने स्थापित किया है कि जिन प्रेक्षणों पर भारतीय खगोलिकी आधारित है, वे ईसा युग से तीन हजार से अधिक वर्ष पूर्व के हैं, और विशेष रूप से कलियुग के आरम्भ में सूर्य तथा चन्द्रमा की स्थितियों को तो वास्तविक प्रेक्षण से ही आंका गया था। इस खगोलिकी का आरम्भ वे इस समय से 1000 या 1200 वर्ष पूर्व मानते हैं, अर्थात् ईसा युग से 4300 वर्ष पूर्व, क्योंकि कलियुग के आरम्भकाल की गणना सही करने जितना ज्ञान प्राप्त करने में उन्हें इतना समय तो अवश्य ही लगा होगा।

वैदिक ग्रंथों का यदि ढंग से सूक्ष्म अध्ययन और विश्लेषण किया जाए तो भारत में खगोल विद्या की प्राचीनता पर और भी प्रकाश पड़ सकता है। उदाहरणस्वरूप, तैत्तिरीय ब्राह्मण में बृहस्पति संबंधी यह प्रसंग आता है (कांड-3-1.1.5) जिसमें कहा गया है, "प्रथम उदय के समय बृहस्पति तिष्य तारापुंज के समक्ष उदित हुए।" यह वक्तव्य भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे एक नक्षत्र के साथ एक ग्रह की स्थिति का आकलन किया जा सकता है। ऋग्वेद में बृहस्पति तथा वेन का भी उल्लेख है। इस सूक्त (4.50.4) का अनुवाद विल्सन ने इस प्रकार किया है, "परम प्रकाश के सर्वोच्च स्तर पर बृहस्पति जब प्रथम बार उत्पन्न हुए, उन सप्तमुख, बहुरूप, ध्वनियुक्त, सप्तकिरण ने अन्धकार का हरण कर लिया। "दूसरा सूक्त (10.123.1) इस प्रकार है, "प्रकाश की चादर में

लिपटा यह वेन शिशु की भांति जल के प्रवाह में सूर्य की किरणों, और स्वयं सूर्य को, अपने प्रेम से उत्तेजित करता है।” अन्य दो मंत्रों में इस ग्रह के सौंदर्य तथा विशालता का और भी विस्तृत वर्णन किया गया है, और उसे अप्सराओं का प्रेमी कहा गया है।

इससे स्पष्ट है कि जिस समय तैत्तिरीय ब्राह्मण का संकलन किया गया, तब तक हिन्दू तीव्र गतिशाली ग्रहों और एक स्थान पर स्थिर दीखने वाले तारकों का अंतर जान चुके थे। उन्होंने नक्षत्रों की तुलना में ग्रहों की स्थितियों के वर्णन का ढंग या तो पूरी तरह जान लिया था या जान रहे थे। यह निश्चित है कि शतपथ की तुलना में तैत्तिरीय ब्राह्मण प्राचीन है और कृष्ण यजुर्वेद शाखा की आद्यतम परम्पराओं से संबद्ध है। ब्राह्मण साहित्य के विकास तथा उसके सही काल-निर्धारण की दृष्टि से यजुर्वेद तथा उसके ब्राह्मणों और विधि पाठों का समुचित अध्ययन बहुत आवश्यक है।

याकोबी और तिलक की यह मान्यता कि ऋग्वेद के कुछ अंश पांच सहस्राब्दी ईसा पूर्व के हैं, यदि ठीक है तो इस बारे में निष्कर्ष निकालना कठिन न होगा कि ऋग्वेद तथा अन्य ग्रंथों में ग्रह-नक्षत्रों के अध्ययन की यह कुशलता प्राप्त करने में उन्हें कितना समय लगा होगा। इस समय तो इस संबंध में यही कहा जा सकता है कि भारत में खगोल विद्या अध्ययन पांच-छह सहस्राब्द ई.पू. का है। यहां यदि इस बात पर भी विचार किया जाए कि सभ्यता के आरम्भ में बौद्धिक कार्यकलाप की गति बहुत ही धीमी रही होगी, तथा आकाश में चमकते सितारों की ओर आदिम मनुष्य की प्रतिक्रिया अध्ययन और विश्लेषण के स्थान पर आश्चर्य तथा भय की अधिक रही होगी, सभ्यता के आरम्भ से वैदिक काल के उदय तक के बहुत कुछ समय का अनुमान भी लगाया जा सकता है। इससे भारत में विज्ञान के रूप में खगोलिकी के विकास के काल का अंदाज लगाना संभव है। यह आश्चर्य की बात नहीं कि जहां पुरातत्त्व सहायक नहीं होता, वहां खगोलिकी सहायक हो सकती

है। जहां पुरातत्त्व धरती की परतों में सुरक्षित सभ्यता के इतिहास को अनावृत करता है, वहां खगोल विद्या हमारे ऊपर विद्यमान आकाश की शोध करती है। साथ ही, खगोल विद्या जहां हमें आकाश में ऊपर ले जाती है, वहां वह हमें काल में पीछे भी ले जाती है।

यहां पश्चिम से हिन्दुओं के प्राचीन संपर्कों पर पुरातात्विक प्रमाणों पर कुछ कहना अनुचित न होगा। कस्पी (1760-1600 ई.पू.) शिलालेखों में प्राप्त राजाओं के नाम भारतीय-आर्य देवताओं का स्मरण कराते हैं। घोड़े के लिए बेबिलोनिया में प्रचलित शब्द 'सुसु' संस्कृत भाषा के 'अश्व' से निकला प्रतीत होता है। 1907 में ह्यूगो विंकलर ने मितन्नी के राजाओं की 1360 ई.पू. में हिनितियों के साथ हुई संधि में वर्णित अनेक देवों में चार का साम्य वैदिक साहित्य के इन्द्र, नासत्यो, मित्रावरुणौ-के साथ स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। बोगज़कोई आलेखों में तित्तियों द्वारा संस्कृत के तकनीकी शब्दों का प्रयोग भी प्रमाणित किया गया है।

यह सर्वप्रथम तिलक ने बताया कि अथर्ववेद में तैमात नामक जिस सर्प के विरुद्ध जादू का प्रयोग किया गया है, वह असीरियाई परदार सांप तियामत से मिलता है। इस प्रकार वेदों में युवातम वेद की ऋचाएं वर्तमान पाश्चात्य सभ्यता के पूर्वजों से भारतीय संपर्कों का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

बगदाद के समीप तैल अगरब में ऑरिएण्टल इन्स्टीट्यूट द्वारा खुदाई में प्राप्त सेलखड़ी का एक बर्तन सुमेरियाई कला का अच्छा नमूना प्रस्तुत करता है। इस पर चरनी के सामने एक कूबड़दार वृषभ अंकित है। इससे स्पष्ट होता है कि ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में मेसोपोटामिया में कोई हिन्दू सम्प्रदाय वर्तमान था। सुमेरिया के साथ भारत के व्यापार संबंध सर्वपरिचित हैं और पुरातत्त्व को यह बताने का श्रेय जाता है कि इस संबंध के कीलाक्षर आलेखों से उपलब्ध प्रमाणों से भी दो हजार वर्ष पूर्व पाश्चात्य सभ्यता की इस जन्मभूमि में भारत में

बना बहुत प्रकार का माल निर्यात किया जाता था। जैसा गार्डन चाइल्ड ने कहा है, “दूसरे शब्दों में कहें तो तीसरी सहस्राब्दी में ही भारत इस स्थिति में पहुंच गया था कि अपनी विशिष्ट आध्यात्मिक विरासत के रूप में प्रख्यात सांस्कृतिक परम्परा का योगदान कर सके।”

इस प्रकार भारत उस समय से विश्व सभ्यता को अपना योगदान कर रहा है, जब से सभ्य समाज और संसार का आरम्भ हुआ। उसे दूसरों से जो प्राप्त हुआ उसे स्वीकार करने का उसने प्रयत्न किया है। वैदिक विद्वानों ने यदि बेबिलोनिया से आयी जादूगरी को लिपिबद्ध किया है, तो यदि अन्यत्र कहीं से खगोल विद्या का कुछ ज्ञान प्राप्त करते तो उसे भी साभार स्वीकार करते, जैसा परवर्ती विद्वानों ने किया है, परन्तु अथर्ववेद अथवा अन्य वेदों में प्राप्त खगोल विद्या की शब्दावली को देखने से उसका संस्कृत से अलग उद्भव नहीं प्रतीत होता। खगोलिकी के क्षेत्र में भारतीय मस्तिष्क की मौलिकता को व्यक्त करने वाला यह बहुत सशक्त प्रमाण है। संस्कृत की बहुत-सी शब्दावली तथा वैदिक देवताओं के नामों के मेसापोटामिया तक प्रचलन से यह विश्वास करना अनुचित नहीं है कि अपने यहां निर्मित विविध वस्तुओं के साथ पश्चिम की यात्रा करने वाले प्राचीन भारतीयों ने उन्हें खगोल विद्या का ज्ञान भी अपने देश की भेंट के रूप में प्रदान किया होगा।

□

लिपि विधाता : गणेश

आठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय विद्वानों के अनुसार वैदिक ऋषि लिखना बिल्कुल नहीं जानते थे। डेविड डिरिंजर ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'द अल्फाबेट' में यह स्थापित करने की चेष्टा की है कि लिपि का आविष्कार सर्वप्रथम किसी अज्ञातनामा सीरियाई-फिलिस्तीनी-सामी व्यक्ति द्वारा किया गया था और कालांतर में इसी मूल लिपि से ग्रीक, लैटिन, हिब्रू, रूसी एवं अरबी लिपियां विकसित हुईं। जॉर्ज ब्यूहलर की राय में पश्चिमी एशिया की 'आरामिक' लिपि के अक्षरों को ऐंठने, घुमाने या उलटने से उनका रूपांतरण 'ब्राह्म' अक्षरों में हो जाता है। विलियम जॉंस एवं वेबर प्रभृति विद्वानों ने भी इसी मत का समर्थन किया है, किन्तु प्रिंसेप, बर्नेल आदि विद्वानों की दृष्टि से भारतीय लिपि का विकास सिकंदर के आक्रमण के समय हुए यूनानी सम्पर्क के कारण हुआ। अपने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' नामक ग्रंथ में आर्थर मैक्डोनल ने यह प्रतिपादित किया कि वैदिक ऋषि लेखन से सर्वथा अनभिज्ञ थे; यद्यपि वैदिक साहित्य में काव्य-शास्त्र एवं विज्ञान की पर्याप्त उन्नत परम्परा मिलती है, पर वह लेखनकला के विकास से बहुत पहले जननी थी; वैदिक ऋषि विद्या को कंठस्थ रखने की मौखिक परम्परा में विश्वास रखते थे; वैदिक साहित्य में 'लिखने' के लिए किसी शब्द का अस्तित्व नहीं पाया जाता और न ही लेखन के किसी उपकरण का वर्णन

है; और यह भी कि ईसा पूर्व पांचवीं शती के आस-पास सामी लिपि के 22 अक्षरों को उधार मांगकर ब्राह्मी लिपि के 46 अक्षर विकसित किये गये; तथा पाणिनि ने इसी वर्णमाला का उल्लेख अपने व्याकरण में किया है। दुर्भाग्य है कि भारत में मैकाले के मानसपुत्रों ने इन स्थापनाओं को यथावत् स्वीकार कर रखा है और संस्कृत भाषा से नितांत अनभिज्ञ हमारे अंग्रेजीदां प्राच्यविद तथा भारतीय विद्या विशारदगण तोतारटंत की भांति अपने छात्रों को यही सब पढ़ाते चले आ रहे हैं। आइए, जरा अपने प्राचीन वाङ्मय पर भी एक नजर डाल लें और जानने की चेष्टा करें कि क्या हम भारतीय सचमुच ही इतने जाहिल थे जैसा कि इन यूरोपीय विद्वानों ने प्रचारित किया है या सच्चाई कुछ और ही है।

तैत्तिरीय संहिता (6-4-7-3) में एक अद्भुत उपाख्यान का वर्णन है। कहते हैं कि देवों को एक कठिनाई का निरंतर अनुभव हो रहा था कि बोलने के पश्चात् 'वाक्' अदृश्य हो जाती थी। उच्चारण करते ही निराकार शब्द इधर-उधर फैल जाता था। उसे 'संभाल' कर रखना या पकड़ना असंभव था। अतः देवगण इंद्र के पास गये और प्रार्थना की-इमां वाचं विआकुरु-इस 'वाक्' को आकार प्रदान करो। निराकार वाक् को साकार करने का अर्थ यही न कि लेखन की प्रक्रिया बताइए। केवल नाम से ही काम नहीं चलेगा, रूप भी चाहिए। तब इंद्र ने कहा कि यह तब ही सम्भव होगा जब आप लोग यज्ञभाग में 'वायु' को भी हिस्सा दें। देवगणों ने इसे स्वीकार कर लिया। तब इंद्र ने वाणी को आकार दिया और संहिता कहती है, तस्मात् इयं विआकृता वाक् उद्यते, अर्थात् तब से यह 'दृश्य-वाणी' के रूप में जानी जाती है। यही ऐंद्र-वायव्य का रहस्य है। निराकार शब्द को साकार 'अक्षर' रूपांतरित करवाने की यह कथा लिपि के वैज्ञानिक आविष्कार के अतिरिक्त और क्या है?

गणेश : लेखन-प्रक्रिया के विशेषज्ञ

भारतीय परम्परा के अनुसार लेखन-क्रिया के विशेषज्ञ गणेश जी

माने जाते हैं। महाभारत के आदि पर्व (1.74) में व्यास मुनि द्वारा लेखन के लिए गणेश के स्मरण का उल्लेख है-‘काव्य लेखनार्थाय गणेश स्मर्यताम् मुने’ और उसी आदि पर्व (1.77) में व्यास जी गणेश जी से अनुरोध करते हैं कि वह ‘भारत’ ग्रंथ के लेखक बनें-लेखकों भारतस्यास्य भव गणनायक अतः यह स्पष्ट है कि गणेश, गणनायक या गणपति महाभारत की रचना के समय तक मूर्धन्य लिपिकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। गणपति परम्परा वैदिक है। ऋग्वेद में ब्रह्मणस्पति सूक्त में भी गणपति का उल्लेख है-

**गणानांत्वा गणपति हवामहे
कविं कवीनामुपमश्रवस्तम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणा ब्रह्मणस्पत।
आनशृण्वनूतिभिः सीदू सादनम्॥**

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ऋचा जिस गणपति का स्तवन है वह कौन है? कहीं इसका सम्बन्ध उसी परम्परा से तो नहीं जिसके प्रतिनिधि गणनायक गणेश महाभारत के लेखक बने? प्रसिद्ध पुरालेखविद् स्वर्गीय अर्जुन बाजी वालावलकर एवं लिपिकार एल.एस. वाकणकर के अभिमत में यह ऋचा लिपिशास्त्रज्ञाता गणपति (प्रथम) को समर्पित है। गण का सामान्य अर्थ होता है- समूह, एक श्रेणी, एक वर्ग विशेष। व्याकरण में गण का तात्पर्य धातुओं और शब्दों की उस श्रेणी से होता है जो किसी विशेष नियम के अनुसार व्यवहार करते हों। गण विश्व के अनुचरों को भी कहते हैं जो गणेश के अधीन रहते हैं। अब यदि गण का अर्थ व्यक्तियों का समूह माना जाये तब यह ऋचा किसी राजा या शासनाध्यक्ष की स्तुति होनी चाहिए। पर यह तो कहती है-“हे गणपति, तू विद्वानों का विद्वान है, ब्रह्म से भी ज्येष्ठ है, इस नयी रचना को सुन!” अतः ब्रह्मणस्पति सूक्त का गणपति मात्र व्यक्तियों के समूह का अध्यक्ष नहीं है अपितु विद्वत् गणों का अधिष्ठाता है। शब्दों,

धातुओं आदि के गणों (समूहों) का अधिपति गणेश ही 'कवीनां कवि' कहा जा सकेगा। इस अर्थ में गणपति ब्रह्म से ज्येष्ठ हो सकता है। मानव समूह का अध्यक्ष ब्रह्म से ज्येष्ठ मानना, वैदिक मंत्रद्रष्टाओं का अभिप्राय नहीं हो सकता, किंतु वाणी (शब्द) एवं अक्षरनाम एवं रूप दोनों का अधिपति महाज्ञानी ब्रह्मज्ञान कराने में समर्थ ब्रह्म से ज्येष्ठ माना जा सकता है। अतः इस दृष्टि से ब्रह्मणस्पति सूक्त के गणपति की परिकल्पना शब्द समूह के अधिष्ठाता के रूप में करना संगत है।

वैदिक साहित्य में शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रंथों का विशेष महत्त्व है। इनके अवलोकन से यह स्पष्ट है कि वेदों के रचयिता लेखन से अपरिचित नहीं हो सकते थे। भाषा की ध्वन्यात्मकता का जितना सूक्ष्म एवं गहन विवेचन इन ग्रंथों में है, वह लिपि ज्ञान के बिना कर पाना असंभव है। बड़े आश्चर्य की बात है कि जो विद्वान केवल इसी आधार पर, कि ऋग्वेद में "लिखने" का उल्लेख नहीं किया गया है, यहां तक कह बैठते हैं कि भारतीय लिपि बाहर से उधार ली गयी है, वे शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रंथों के बारे में या तो चुप लग जाते हैं, या सरसरी तौर पर इनकी प्रशंसा कर देते हैं। यदि इस तथ्य को ध्यान में रखा जाये कि ये ग्रंथ लोगों को वेदाध्ययन में निष्णात करने के उद्देश्य से लिखे गये थे, तब यह मानना होगा कि बिना लिपि-ज्ञान के इनकी रचना नहीं हो सकती थी। वेदों के पाठ की विभिन्न पद्धतियां यथा 'क्रम-पाठ', 'जटा-पाठ' आदि भी इस तथ्य को पुष्ट करती हैं कि बिना लिखित मंत्रों के इन जटिल प्रक्रियाओं का विकास संभव नहीं था। ऋग्वेद के मंत्र विभिन्न छंदों में रचे गये हैं जिनको अक्षर संख्या, ह्रस्व, दीर्घ आदि स्वरों का निर्धारण लिपि-ज्ञान के बिना कर पाना सर्वथा असंभव है। प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि वैदिक ऋषि लिखना जानते थे, तो वह लिपि कौन-सी थी?

प्राचीन लिपि के स्वरूप का रहस्य

पाणिनीय शिक्षा में लिखा है शंभुमत के आधार पर लिपि में 63

या 64 वर्ण होते हैं—त्रिषष्टि चतुःशष्टिर्वा वर्णाः शंभुमते अर्थात् पाणिनि के पूर्ववर्ती 'शंभु' ने 63 या 64 वर्णों का अस्तित्व बताया है। यह 'शंभु' कौन थे? ऋग्वेद में व्याकरण की परिभाषा करते हुए कहा है— चत्वारि शृंगा त्रयोदस्य पादा...महादेवां मत्यां अविवेशा। अर्थात् महादेव या महेश्वर ही व्याकरण पुरुष है। व्याकरण की यह माहेश्वर परम्परा भारतीय विद्याविदों के लिए अनजानी नहीं है। इस परम्परा के अनुसार सनकादि ऋषियों ने ज्ञान की शाखा के उद्धार के लिए भगवान् शिव की उपासना की तब दक्षिण भारत के चिदंबरम में नटराज शिव ने वैश्विक नृत्य अंतराल में अपने डमरू को चौदह बार बजाया—नृत्यावसाने नटराज राजौ, ननाद ढक्कां नवपंच बारं—तथा माहेश्वरी सूत्रों का उपदेश देकर इस ज्ञान को बचा लिया। संस्कृत व्याकरण के प्रारंभिक पाठ इन्हीं सूत्रों से आज भी प्रारम्भ होते हैं। पढ़ाया जाता है—अ इ उ ण, ऋ लृ क, ए ओ ङ... , ख फ छ ठ थ...श ष स र्, ह ल्... और फिर पढ़ाये जाते हैं पाणिनि के सूत्र—अकुह विसर्जनीयानांकंठः, इचु यशानां तालु... माहेश्वरी सूत्रों एवं पाणिनि के सूत्रों का वास्तविक अर्थ एवं परस्पर संबंध जानने में ही भारत की सर्वाधिक प्राचीन लिपि के स्वरूप का रहस्य छिपा है।

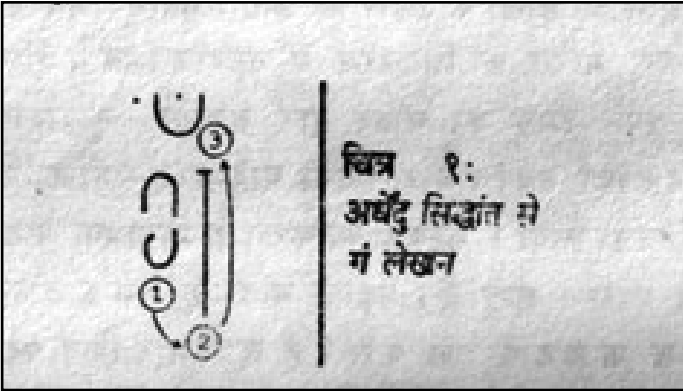
पुरालेखविद् वालावलकर एवं लिपिकार वाकणकर ने इस सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने रखे हैं उनसे भारतीय लिपि के मूल एवं गणपति के वास्तविक अर्थ समझे जा सकते हैं। इस दृष्टि से अथर्व परम्परा के एक अन्य अभिलेख की चर्चा परमावश्यक है। गणपति 'अथर्वशीर्ष' के नाम से प्रचलित इस पाठ का मुख्य अंश निम्नवत् है—

गणादि पूर्यमुच्चार्य वर्णादिः तदनंतरम्। अनुस्वारः परतरः। अर्धदुलसितं। तारेण रुद्धं। एतत्तवमनुस्वरूपम्। गकारः पूर्वं रूपं। अकारो मध्यम रूपं। अनुस्वारश्चात्यं रूपं। बिंदुरुत्तर रूपं। नादः संधानं। संहिता संधिः। सैषा गणेश विद्या। गणक ऋषि। निचृद्गायत्री छंदः। गणपति देवता। ॐ गं गणपतये नमः।

दक्षिण भारत में इसे गणपत्युपनिषत् के रूप में महत्त्वपूर्ण उपदेश

माना जाता है। वाकणकर के अनुसार उपरोक्त 'अथर्वशीर्ष' में ही भारतीय लेखन की प्रक्रिया का वर्णन है। आइए, जरा इस स्तोत्र का विश्लेषण करें।

गणपति अथर्वशीर्ष कहता है- सैषा गणेश विद्या अर्थात् यही वह विद्या है जो गणपति जानते हैं। इस विद्या में गणादि (शब्द समूह) तथा वर्णादि (लिखित स्वर-व्यंजन) को परस्पर संबंधित किया गया है अर्थात् लेखन की विधि समझाई गयी है। उदाहरण के रूप में बीज अक्षर 'ग' के लेखन की विधि बताई गयी है। पहले ध्वनिग्राम का उच्चारण कीजिए फिर अक्षरग्राम की आकृति बनाइए, जिसके अन्त में अर्धचंद्र सहित अनुनासिक चिन्ह बना हो।



इस आकृति का प्रथम भाग (1) 'व्यंजन' का द्योतक है। मध्य भाग (2) 'अकार' का द्योतक है और अंतिम भाग (3) अर्धचंद्र सहित अनुनासिक है। इस प्रकार गं (चित्र-1) लिखा जा सकता है। अब इस आकृति का एक अक्षर की भांति उच्चारण कीजिए। यही गणेश विद्या का ध्वन्यात्मक एवं लिप्यात्मक रहस्य है-सा एषा गणेश विद्या। प्रश्न उठता है कि अक्षरों की आकृति बनाने का कोई नियम था या चाहे जैसी आकृति बनाने की छूट थी? वालावलकर के अनुसार इसका उत्तर माहेश्वर सूत्रों से मिलता है।

खड़ी पाई का महत्व

वालवलकर के अनुसार माहेश्वरी सूत्रों द्वारा अक्षरों का वर्गीकरण उच्चारण एवं आकृति की रूपरेखा पर आधारित है। शिव के डमरू की आकृति पर ध्यान दीजिए। एक दृष्टि से डमरू दो अर्धचंद्रों अथवा

वैदिक ओ म

पुराण का प्रथम अक्षर

क प (य)

चटत (व)

दृश्यमाने अक्षरानाम्
अक्षरानाम् अक्षरानाम्
अक्षरानाम् अक्षरानाम्
अक्षरानाम् अक्षरानाम्

अक्षर (वर्ण)	अक्षर (वर्ण)	अक्षर (वर्ण)	अक्षर (वर्ण)
1. म	अ	आ	इ
2. ए	उ	ऊ	ऋ
3. ऋ	ॠ	ॡ	ॢ
4. ऌ	ॡ	ॢ	ॣ
5. ळ	ॣ	।	॥
6. ॥	॥	॥	॥
7. ॥	॥	॥	॥
8. ॥	॥	॥	॥
9. ॥	॥	॥	॥
10. ॥	॥	॥	॥
11. ॥	॥	॥	॥
12. ॥	॥	॥	॥
13. ॥	॥	॥	॥
14. ॥	॥	॥	॥

अक्षर (वर्ण)	अक्षर (वर्ण)
आदिभ्यः (अ-इ-उ-ऋ-ॠ-ॡ-ॢ-ॣ)	२-३-१
ए (द्विगुण दस्य)	४-१
एव संवत्सर (अ-इ-उ-ऋ-ॠ-ॡ-ॢ-ॣ)	३-३
एव संवत्सर (अ-इ-उ-ऋ-ॠ-ॡ-ॢ-ॣ)	४-४
अर्धस्वरा	२-२-२-२
	२
अनुनासिक वर्ण (व्यञ्जन)	१ १ १ १ १
सुदृढस्वरा व्यञ्जन	१ १
	१ १ १
सुदृढस्वरा व्यञ्जन	२ २ २ २ २
करीम महास्वरा व्यञ्जन	२ २ २ २ २
करीम व्यञ्जन	१ १ १ १ १
उष्णता:	२ २ २
	२

एभिर्माहेश्वरानि सूत्राणि प्रकाशितानि चिन्त्रिः

इति माहेश्वरानि सूत्राणि प्रकाशितानि चिन्त्रिः ॥

चित्र २: अर्धचंद्र सिद्धांत (वालवलकर द्वारा प्रस्तुत चार्ट)

अर्धचंद्र लसितम् Crescental Base	कंठ्य	तालव्य	अर्धन्य	दन्त्य	ओष्ठ्य
वर्ण स्वर: Vowel Forms (Vosy-ms)	अ	इ	ऋ	ॠ	उ
मात्रा नल्लय Vowel Powers (matras)	२, ३, ४	१, २, ३	४, ५, ६	७, ८, ९	१०, ११, १२

चित्र ३: माहेश्वरी सूत्रों से स्वर-वर्णों की उत्पत्ति (वाकणकर का चार्ट)

दो अर्धदुओं द्वारा बनता है। इन्हीं दो अर्धदुओं को जोड़ने से पूर्णचंद्र या गोलाकार भी बन जाता है। वालावलकर का मुख्य योगदान यह है कि उन्होंने सर्वप्रथम यह समझाया कि इस गोले के विभिन्न खंडों को अक्षर-रचना का मूलाधार मानकर माहेश्वरी सूत्र उनके उच्चारण एवं आकृतियों की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। वालावलकर इस प्रक्रिया को इस तरह स्पष्ट कर देते हैं। चार्ट में सबसे बायीं ओर वैदिक एवं पौराणिक ॐ की रचना समझाई गयी है। इस पर चर्चा बाद में करेंगे। शेष अक्षर-विन्यास स्पष्ट है। चित्र 3 एवं 4 वाकणकर के चार्ट हैं। उन्होंने माहेश्वरी सूत्रों एवं पाणिनि दोनों के वर्गीकरण साफ-साफ समझा दिये हैं।

इन चित्रों की विशद व्याख्या इस लेख में संभव नहीं है। पर इतना कहना आवश्यक है कि अथर्वशीर्ष में जो 'ग' की आकृति बनाने की विधि बताई गयी है, वह इन्हीं माहेश्वरी सूत्रों पर आधारित है। जिन्हें ध्वनि एवं लिपिशास्त्रों के सामान्य नियमों का ज्ञान है, वे इन चित्रों से इस बात को सफलतापूर्वक समझ जायेंगे। इस दृष्टि से माहेश्वरी सूत्र यदि अक्षरों के वर्गीकरण का सिद्धान्त दिग्दर्शित कराते हैं तो अथर्वशीर्ष में उनकी व्यावहारिक रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है।

भारतीय मनीषियों की साधना की फलश्रुति के रूप में ध्वन्यात्मक उच्चारण एवं लेखन के विकास की यह गाथा इन सूत्रों और स्तोत्रों के
















अर्धदु लसितम् Crescental Base	कंठश	तालव्य	मूर्धन्य दन्त्य	ओष्ठश
वर्ण स्वर: Vowel Forms (Vasy-mis)	अ	इ	ऋ	उ
मात्रा बलय Vowel Powers (matras)	ऋ	ऌ	ऍ	ऎ

चित्र : ३: माहेश्वरी सूत्रों से स्वर-वर्णों की उत्पत्ति (वाकणकर का चार्ट)

माध्यम से संजोकर रखी हुई है। इन सूत्रों में खड़ी रेखा बिंदुमय प्रदर्शित

की गयी है। प्रारंभिक अक्षरों में यह नहीं हुआ करती थी। शायद जब श्रीकृष्ण ने गीता में कहा-अक्षराणाम् अकारोऽस्मि, तब इस खड़ी पाई का आकार के प्रतिनिधि के रूप में प्रवेश हुआ। वाकणकर के चार्ट को ध्यान से देखिए-समूची वर्णमाला में केवल तीन अक्षरों को छोड़कर शेष सब खड़ी पाई व्यंजन वाले भाग से जुड़ी हैं। और कितना सुखद आश्चर्य है कि ये तीन अक्षर हैं-ग,ण,श- (गणेश) वाकणकर के मत में इससे अधिक प्रबल प्रमाण-सा एषा गणेश विद्या के बारे में और क्या हो सकता है? इस विवेचन से यह समझना भी कठिन नहीं है कि माहेश्वरी सूत्रों के रचयिता का उद्देश्य आकृति की समानता के आधार पर अक्षर-ज्ञान कराना था। इस पद्धति में वर्णों का वर्गीकरण उनमें अर्धदुओं की संख्या के आधार पर किया गया है जबकि पाणिनि के सूत्र उन्हीं वर्णों को उच्चारण स्थल में साम्य के आधार पर संकलित करते हैं।

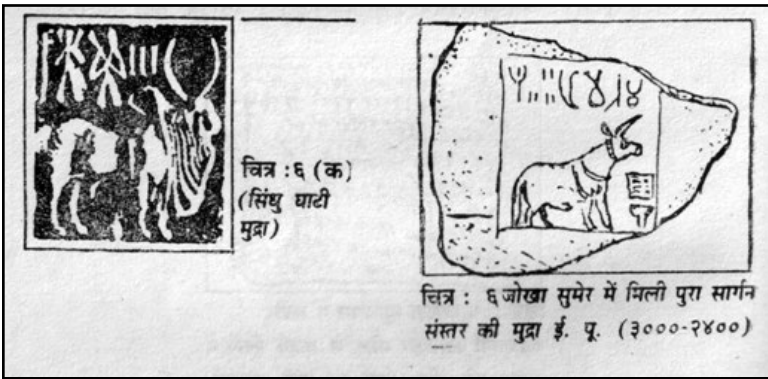
अब कुछ चर्चा पुरातत्व से प्राप्त प्रमाणों की भी कर ली जाये। ब्रिटिश म्यूजियम में एक सील (क्र. 81-11-3-66/1067-47361) रखी है जिसकी अनुकृति चित्र-5 में प्रदर्शित है। ईसापूर्व छठी शताब्दी

अर्धतुलसितम् Crescental Base		तालव्य 	दूर्धन्य 	दन्त्य 	ओन्त्य 
वर्ण स्वरः Vowel Forms (Vosy-ms)					
मात्रा नलम Vowel Powers (matras)					

चित्र : ३: माहेश्वरी सूत्रों से स्वर-वर्णों की उत्पत्ति (वाकणकर का चार्ट)

की इस सील में बेबीलोनी कीलाक्षर लिपि एवं ब्राह्मी संस्कृत लिपि दोनों एक साथ विद्यमान हैं। कीलाक्षरों को तो 1936 में ही पढ़ लिया गया था किंतु बीच की एक पंक्ति को कोई अज्ञात लिपि मानकर यों

ही छोड़ दिया गया था। पुरालेखविद् वालावलकर ने ही इस अज्ञात लिपि को पढ़कर यूरोपीय विद्वानों की मान्यता, कि भारत ने लिपि कहीं बाहर से उधार ली, झुठला दी। उनके अनुसार यह सील अशोक पूर्व माहेश्वरी लिपि में लिखी संस्कृत का साक्ष्य प्रस्तुत करती है। इस पंक्ति का पाठ है-अवखेजराख नु औहर्मनुभ्यः ददातु-जो कीलाक्षरों में लिखे अनुबंध की संस्कृत में की गयी संपुष्टि है- इस साक्ष्य से मैकडोनल एवं ब्यूहलर की स्थापनाएं कि भारत ने ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी में लिपि बाहर से उधार ली थी, निस्सार सिद्ध हो जाती है। इसी तरह एक अन्य महत्त्वपूर्ण पुरातत्वीय साक्ष्य है ईसा पूर्व (3000-2400) की एक पुरा-सार्गन संस्तर में उपलब्ध सील जो जोखा-सुमेर में प्राप्त हुई थी। इस सील (चित्र 6) को देखकर जॉन मार्शल ने कहा था कि इस सील के पुरातत्वीय परिणाम बेहद चौंकाने वाले हैं। इस सील के सिंधु घाटी सील (चित्र-6क) के साथ साम्य ने यूरोपीय विद्वानों की भारतीय लिपि के बाहरी उद्गम सम्बन्धी स्थापनाओं पर अनेक प्रश्नचिन्ह लगा दिये। अब कम-से-कम हमारे मनीषियों द्वारा लिपि बाहर से उधार लेने का शोर मचाया जाना तो मंद पड़ ही गया है। लेकिन भारतीय लिपि की प्राचीनता सम्बन्धी प्रश्नों पर अभी भी अंग्रेजीदां प्राच्यविद् चुप्पी लगाये हैं।



वैदिक ओंकार

इस क्रम में छठी शताब्दी ईसा पूर्व के सोहगरा ताम्र अभिलेख

(चित्र-7क) पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। इसकी प्रथम पंक्ति में वही चित्र बना हुआ है जिसे वालावलकर के चार्ट में वैदिक ओंकार बताया गया है। जरा चित्र-7 ख, ग, घ को भी देखिए। ये सब सिक्कों के चित्र हैं, जिनमें वैदिक ओंकार तथा स्वस्तिक जैसे आध्यात्मिक प्रतीक अंकित है।

प्रश्न यह है कि वैदिक ओंकार की आकृति ऐसी क्यों मान ली जाये? ज्ञानेश्वरी में ओंकार रचना का वर्णन करते हुए लिखा है - अ-कार चरणयुगल। उ-कार उदर विशाल। म-कार महामंडल। मस्तकाकारे ॥ 19 ॥ हे तीन्ही एकवटले। तेथ शब्दब्रह्म प्रकटले। ते मिया श्रीगुरुकृपा नमिले। आदि बीज ॥ 20 ॥ शब्द ब्रह्म या एकाक्षर ब्रह्म, प्रणक की आकृति का ज्ञानेश्वरी में किया गया वर्णन महत्त्व का है। वर्तमान देवनागरी में लिखे जाने वाले ॐ से इस वर्णन का मेल स्पष्ट नहीं होता। किंतु वालावलकर के वैदिक ओंकार से अवश्य इसका



चित्र : ७(क)
सोहगरा ताम्र
अभिलेख
(छठी शताब्दी
ई. पू.)



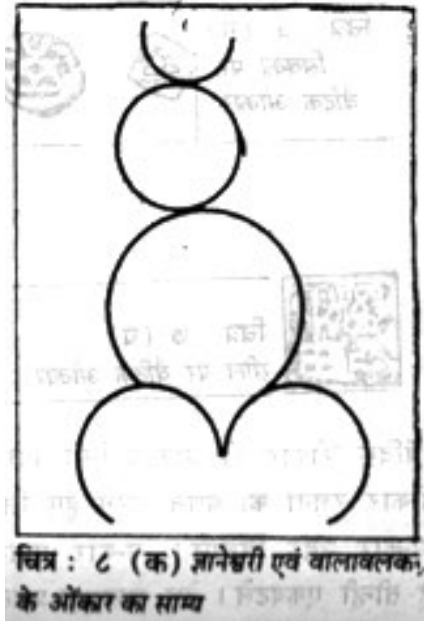
चित्र : ७ (ख) आहत मुद्राओं (सिक्कों)
में स्वस्तिक एवं वैदिक ओंकार

चित्र : ७ (ग)
सिक्कों पर
वैदिक ओंकार

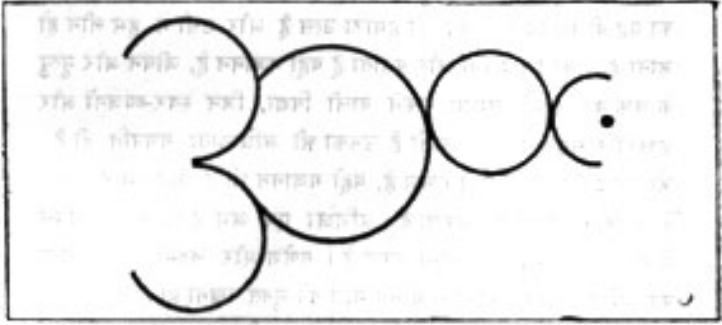


चित्र ७ (घ)
सियाल पर वैदिक ओंकार

साम्य है। यदि माहेश्वरी सूत्रों के अर्धेदु सिद्धांत पर गौर किया जाये तो यह गुल्थी सुलझ जाती है। चित्र-8क को देखिए-सबसे नीचे दो अर्धेदु हैं जो 'अ' के प्रतीक हैं; उसके ऊपर फिर एक अर्धेदु खंड है जो 'उ' को व्यक्त करता है, सबसे ऊपर एक वृत्त एवं अर्धेदु बिंदु है जो 'म' को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार ज्ञानेश्वरी का ओंकार, गीता एवं उपनिषदों का एकाक्षर ब्रह्म या प्रणव, जो भी कहिए, वह माहेश्वरी सूत्रों के अर्धेदु सिद्धांत के अनुसार निश्चित आकारों को, जो निश्चित ध्वनियों के प्रतीक हैं, क्रमानुसार जोड़ने से बनी एक निश्चित आकृति है। देवनागरी के ऊँ में भी यही सिद्धांत परिलक्षित होता है। यदि वैदिक ओंकार को चित्र-8 ख की भांति नब्बे अंश से घड़ी की सूई की दिशा में घुमा दे तो देवनागरी आकृति से अद्भुत साम्य हो जाता है। एक दृष्टि से वैदिक ओंकार के देवनागरी ऊँ में रूपांतरण तक की यात्रा भारतीय लिपि के विकास की कहानी है। इसे ऋग्वेद से लेकर पद्मपुराण तक खोजा जा सकता है।



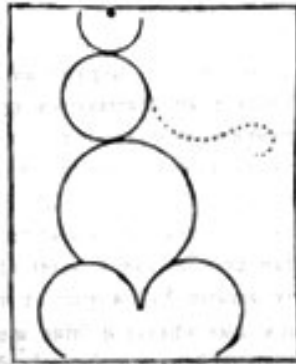
चित्र : ८ (क) ज्ञानेश्वरी एवं वालावलक,
के ओंकार का साम्य



चित्र : ८ (ख) यौगिक ओंकार वैदिक ओंकार का ही स्वरंतरण है

उद्गम और गंतव्य

शिव द्वारा गणेश को हाथी का मस्तक प्रदान किये जाने के आख्यान से तो सभी सुपरिचित हैं। वैदिक ओंकार में यदि चित्र-9 में बिंदुमय रेखा की भांति सूंड लगा दें तब वह गणपति का आकार बन जायेगा। बीजाक्षर प्रणव को गजानन बनाने से क्या लाभ? 'गज' शब्द दो व्यंजनों से बना है- 'ग' और 'ज'। 'ज' प्रतीत है जन्म का अर्थात् अपने उद्गम का और 'ग' प्रतीक है गति का, गंतव्य का, मंजिल का। इस प्रकार 'गज' शब्द हमें अपनी उत्पत्ति और अंत का संकेत देता है-जहां से आये हो वहीं जाओगे, जो जन्म है वही मृत्यु भी है। ब्रह्म और जगत्



चित्र : ९ गणपति और ओंकार :

द्विज साधु

का यथार्थ समझने का यह बीज-शब्द है- ब्रह्म ही हमारा उत्स है। और उसी में हमें लीन हो जाना है- जो इसे देखता और बताता है वही गजानन है, जीवन और मृत्यु के चक्र का रहस्य समझा सकने वाली विद्या, जिन स्वर-व्यंजनों और अक्षरों के समूह से सीखी जाती है उनका भी अधिष्ठाता गणपति ही है। जो आदि बीज ॐ है वही गणेश है, वही गजानन भी है, वही हमारे अज्ञान के अंधकार को दूर कर सकता है। अशिक्षा एवं अभाव ही मानव-जीवन में सबसे गहन अंधकार उत्पन्न करते हैं। गणेश और लक्ष्मी की उपासना का अर्थ इन दोनों अभावों से मानव मात्र को मुक्त रखना ही है।

चलते-चलाते सुधी पाठकों से एक निवेदन और करना चाहता हूं, आज भारत की राष्ट्रीय एकात्मता पर संकट गहरा रहे हैं। हमें अंग्रेजी इतिहासकारों ने तथा अपने को तथाकथित प्रगतिशील कहने वाले अनेक विद्वानों ने यह समझाने की चेष्टा की है कि भारत कभी एक राष्ट्र नहीं रहा अपितु वह अनेक राष्ट्रों या उपराष्ट्रों का समूह रहा है, और इसके प्रमाण में एक तर्क, भाषाओं और लिपियों का भेद होना दिया जाता रहा है। किंतु ध्यान देने से यह पता चलता है कि ईस्वी प्रथम शती तक भारत के विभिन्न क्षेत्रों में लिपि-भेद नगण्य था। शनैः-शनैः यह भेद बढ़ता दिखाई देता है, किंतु उनके मूल तत्त्व आज भी वैसे ही बने हुए हैं। आज भी भारत की सभी भाषाओं और लिपियों के मूल आधार के रूप में माहेश्वरी सूत्र और गणपति अथर्वशीर्ष के अर्धेदु सिद्धांत ही चले आ रहे हैं। दक्षिण के ऐंद्रव्याकरण एवं तैत्तिरीय संहिता के ऐंद्र-वायव्य का वैयाकरण एक ही इन्द्र है। सभी भारतीय लिपियों का आधारभूत मंत्र गणपति अथर्वशीर्ष ही है। यह भी ध्यान दीजिए कि माहेश्वरी सूत्रों का उद्घोष दक्षिण में हुआ था और पाणिनि सूत्र उत्तर में लिखे गए थे। भारतीय व्याकरण इस प्रकार राष्ट्रीय एकात्मता का कालजयी प्रतीक है। यह इस बात का द्योतक है कि जब तक स्वर और व्यंजन रहेंगे, भाषा और लिपि रहेगी, भारत एक रहेगा। भारत और भारती रूप और

नाम का सदा संपृक्त युग्म है। वाणी और अर्थ जिस प्रकार अविभक्त हैं, भारती और भारत भी उसी प्रकार अखंड एवं अविभाज्य हैं। सच पूछिए तो गणपति अथर्वशीर्ष भारतीय भाषाओं के अक्षर मौक्तिकों से निर्मित अ-क्ष माला का ऐसा अमृत सूत्र है जो विविधता में एकता के जीवन-दर्शन को साकार करता है। गणपति भारतीय एकात्मता की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या है। ॐ गं॥

□

आचार्य नागार्जुन

अलबेरूनी ने अपने ग्रंथ 'भारत वर्णन' में रसविद्या के आचार्य नागार्जुन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि आचार्य नागार्जुन सौराष्ट्र में सोमनाथ के निकट देहक में रहते थे। वे रसविद्या में बहुत निपुण थे। उन्होंने इस विषय पर एक ग्रन्थ भी लिखा जो अलबेरूनी के कथनानुसार दुर्लभ हो गया था। परन्तु अलबेरूनी ने यह भी लिखा है कि नागार्जुन उससे कोई सौ साल पहले ही हुए थे। इस उल्लेख से सौराष्ट्र वाले नागार्जुन का काल दसवीं शताब्दी के आस-पास माना जाएगा। यदि यह स्थापना सत्य हो तो प्रश्न उठता है कि यह उल्लेख बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन, जिनका काल ईसापूर्व पहली शती निश्चित किया जा चुका है, के बारे में अथवा सिद्ध नागार्जुन, जो सातवीं शताब्दी ईस्वी में हुए, के बारे में तो हो नहीं सकता अतः यह किसी तीसरे नागार्जुन से संबंधित है? कुछ विद्वानों का अभिमत है कि अलबेरूनी का तात्पर्य बौद्ध नागार्जुन से नहीं हो सकता क्योंकि वे तो उससे कम-से-कम हजार-बारह सौ वर्ष पूर्व हुए थे। हां, सिद्ध नागार्जुन के बारे में वह अवश्य लिख सकता था क्योंकि वे अलबेरूनी के आने से तीन-चार सौ वर्ष पूर्व ही हुए थे। परन्तु इस स्थापना को मानने में सबसे बड़ी अड़चन यह है कि सातवीं शती वाले सिद्ध नागार्जुन नालंदा से सम्बन्धित थे और उनका उल्लेख चौरासी सिद्धों में मिलता है। पर

अलबेरूनी ने तो नागार्जुन को सौराष्ट्र का निवासी लिखा है। अतः यह प्रश्न उठना उचित है कि क्या कोई तीसरा नागार्जुन भी हुआ था? कुछ विद्वानों की राय में अलबेरूनी ने प्राप्त सूचनाओं की प्रमाणिकता पर काफी ऊहापोह के बाद ही उनका समावेश अपनी पुस्तक में किया है अतः सौराष्ट्र क्षेत्र में किसी तीसरे नागार्जुन के अस्तित्व को ढूँढ़ने का प्रयत्न स्वाभाविक ही कहा जायेगा।

हाल ही में, प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक परम्परा के अध्ययन के सिलसिले में कुछ जैन ग्रंथों का अवलोकन करने का अवसर मिला तथा उदयपुर के डॉ. राजेन्द्रप्रकाश भटनागर की जैन आयुर्वेद से संबंधित पुस्तक भी पढ़ने का सुयोग मिला। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन परम्परा में भी एक नागार्जुन हुए हैं और उन्हें भी सिद्ध नागार्जुन ही कहा जाता था। मेरुतुंगाचार्य रचित प्रबन्ध चिंतामणि के 'नागार्जुनोत्पत्ति स्तंभनक तीर्थावतार प्रबन्ध' में नागार्जुन के जन्म एवं सिद्ध पुरुष बनने का वर्णन किया गया है। उसके अनुसार अनेक प्रकार की औषधियों के प्रभाव से नागार्जुन सिद्ध पुरुष बने तथा पादलिप्ताचार्य के शिष्य बनकर कोटिवेधी रस के निर्माण की विधि को जान गए। जैन ग्रंथों के अनुसार नागार्जुन 'ढंकगिरी', जो सौराष्ट्र प्रांत में था, के निवासी थे किन्तु उन्हें सातवाहन नरेश का अश्रय मिला था जिसे रसवेध द्वारा उन्होंने दीर्घायु प्राप्त कराई थी। 'ढंकगिरी' गुफाएं प्राचीन इतिहासविदों के शोध के परिणामस्वरूप तीसरी शताब्दी ईस्वी की समझी जाती है। अतः ईसा की दूसरी या तीसरी शती में नागार्जुन सौराष्ट्र में रसायनशास्त्री के रूप में विख्यात थे। जैन साहित्य में ढंकगिरि को शत्रुंजय पर्वत का भाग माना जाता है, यह सौराष्ट्र में बल्लभीपुर के निकट है। नागार्जुनी वाचना या बल्लभी वाचना के नाम से जैन-आगमों के पाठों का उल्लेख तो यत्र-तत्र मिलता है पर पाठ अनुपलब्ध हैं। अतः बल्लभीपुर में नागार्जुन की उपस्थिति ईसा की तीसरी शती के आस-पास होने के संकेत तो स्पष्ट हैं।

डॉ. भटनागर के मतानुसार यही वह तीसरे नागार्जुन हैं जो बौद्ध

नागार्जुन एवं नालंदा के सिद्ध नागार्जुन से भिन्न हैं तथा इन्हीं का उल्लेख अलबेरूनी ने किया है किन्तु इनका समय बताने में उसने भूल की है। उनकी दृष्टि से नागार्जुन, आचार्य पादलिप्त सूरि के शिष्य थे। जैन ग्रन्थों में पादलिप्त सूरि जी का जीवन-वृत्त विस्तार से मिलता है। प्रभावक चरित्र, प्रबंधकोष, प्रबंधचिंतामणि प्रभृति के अवलोकन से यह विदित होता है कि आचार्य पादलिप्त सूरि ईसा की पहली शती में हुए थे। डॉ. नेमिचंद्र शास्त्री के अनुसार 'विशेषावश्यक भाष्य' एवं 'निशीथ-चूर्णी' जैसे ग्रन्थों में पादलिप्त सूरि जी के उल्लेख के कारण उनका काल पर्याप्त प्राचीन माना जाना चाहिए। आचार्य पादलिप्त को ऐसा ज्ञात था कि जिसे पैरों पर लगाने से वे आकाश गमन कर सकते थे। इसी कारण इन्हें पादलिप्त कहा गया। पादलिप्त के एक शिष्य स्कन्दिल भी थे। जैन साहित्य के वृहद इतिहास के अवलोकन से पता चलता है कि नागार्जुन भी इन्हीं के शिष्य थे। प्रबंधकोष के अनुसार दक्षिण प्रतिष्ठानपुर का सातवाहन राजा आचार्य पादलिप्त का समकालीन था। उसके समय में पाटलिपुत्र का राजा मरुंड था। प्रश्न है कि प्रतिष्ठानपुर का कौन-सा राजा पादलिप्त का समवर्ती था?

अब एक अन्य दृष्टि से भी विचार करें। जयचन्द्र विद्यालंकर कृत 'भारतीय इतिहास के उन्मीलन' नामक ग्रंथ में कहा गया है कि जैन वाङ्मय के अनुसार प्रतिष्ठान के शालिवाहन या सातवाहन राजा ने भरुकच्छ के राजा नहपान पर विजय प्राप्त की थी और यही राजा बाद में विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा प्रतिष्ठान से आकर उसने उज्जयिनी पर विजय प्राप्त की थी। इस विक्रमादित्य का वास्तविक नाम गौतमीपुत्र शातकर्णी था। इसी राजा ने जब मालव गण के सहयोग से शकों को ई. पू. 57 में हराया तब से विक्रमी संवत् प्रारंभ हुआ।

अब यदि इस तथ्य पर विचार किया जाए कि सातवाहन राज्य का उत्कर्ष कब हुआ तो यह निर्धारण करना सम्भव हो सकता है कि आचार्य पादलिप्त कब हुए थे। सातवाहन राज्य ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी

से ईस्वी प्रथम-द्वितीय शताब्दी के आस-पास रहा। उसमें भी चरमोत्कर्ष पर ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी से ईस्वी प्रथम शती में लगभग 100 वर्षों तक रहा। इन्हीं दिनों सातवाहनों का दरबार विद्या का केन्द्र बन गया। अतः जैन ग्रन्थों के अनुसार राजा हाल के दरबार में पादलिप्त जैसे आचार्य को आदरपूर्वक रखा जाना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। कुछ विद्वानों के मत में ढंकगिरि गुफाएं ईस्वी प्रथम-द्वितीय शती की होनी चाहिए। यह अभिमत अधिक युक्तिसंगत लगता है। तब जैन नागार्जुन का काल ईस्वी प्रथम-द्वितीय शती के आस-पास होना संभव है और उनकी गुरु-परम्परा से मेल खा जाता है। ऐसा लगता है कि गौतमी बालश्री के नासिक अभिलेख में पुत्र एवं पौत्र दोनों के कार्यों का एक साथ उल्लेख करने से विद्वतज्जनों ने यह समझा कि पिता एवं पुत्र एक साथ ही राज्य कर रहे थे यद्यपि ऐसा होना असम्भव नहीं है किन्तु यह भी तो हो सकता है कि गौतमी बालश्री सामान्य से अधिक दीर्घायु प्राप्त कर सकी हों और पौत्र के राज्यकाल में भी अरसे तक जीवित रही हों, अतः नासिक अभिलेख में दोनों के कार्यों का उल्लेख हो। अतः यह निश्चित करना आवश्यक है कि आचार्य पादलिप्त सूरि किसके समकालिक थे? विक्रमादित्य के समवर्ती होने पर, और दीर्घजीवी होने पर तो तीसरी शती ईस्वी में नागार्जुन के गुरु होने की संभावना अटपटी-सी लगती है। यदि ऐसा होता तो दीर्घ जीवन की चमत्कारिक उपलब्धि का उल्लेख इतिहास-ग्रन्थों या आयुर्वेद साहित्य में होना चाहिए था। पर अभी तक ऐसा विवरण मेरी जानकारी में नहीं है।

यद्यपि बील ने बौद्ध नागार्जुन का समय ई.पू. 33 निर्धारित किया है किन्तु रेनों और फिलियोजे के मत में बौद्ध नागार्जुन ईस्वी प्रथम शताब्दी के अंत में हुए थे। यदि यह स्थापना मान्य हो तब बौद्ध एवं जैन नागार्जुन लगभग समकालीन होंगे। जैन ग्रन्थों के अनुसार नागार्जुन ने ढंक-पर्वत की गुफा में रसकूपिका स्थापित की थी और रस-सिद्धि तथा सुवर्ण-सिद्धि के प्रयोग भी किए थे। उन्होंने जैन आगमों की वाचना

तैयार कराई। कई बातों में बौद्ध नागार्जुन एवं जैन नागार्जुन के व्यक्तित्वों में काफी साम्य भी दृष्टिगोचर होता है। दोनों ही रसायनशास्त्र के ज्ञाता थे, दोनों ने ही विभिन्न ग्रन्थों के शुद्ध रूप को प्रस्तुत किया था। ज्ञातव्य है कि बील ने नागार्जुन को बुद्ध के चार सौ वर्ष बाद होना बताया है अतः बील का मत बुद्ध के काल के ऊपर निर्भर करता है। यदि महात्मा बुद्ध का ही काल पीछे खिसक जाए तब क्या होगा? बहुत से विद्वानों के अभिमत में ईसापूर्व भारतीय इतिहास की अनेक गुत्थियां ऐसी हैं कि जो विभिन्न घटनाओं के काल-निर्धारण को उलझा देती हैं। बौद्ध नागार्जुन एवं जैन नागार्जुन के बारे में प्राप्त जानकारी का सही उपयोग करके उनका स्पष्ट काल-निर्धारण करना उन गुत्थियों को सुलझाने में सहायक तो होगा ही, साथ ही भारतीय ज्ञान-विज्ञान के उन्नयन में जैन मनीषियों के योगदान का भी स्पष्ट उन्मीलन करने में सहायक होगा।

जैन साहित्य के शोधकों से मेरा अनुरोध है कि वे मात्र पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रस्तावित तिथियों को ही सदा सत्य न मान लें अपितु जैन-परम्परा तथा अन्य समसामयिक परम्पराओं के मिलान के बाद ही काल निर्धारण करें। यदि जैन नागार्जुन के सम्बन्ध में समस्त उपलब्ध सामग्री का समीक्षात्मक विवरण तैयार हो सके तथा उनका ठीक काल-निर्णय हो सके तो यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जायेगा। इस दृष्टि से आयुर्वेद के इतिहास-विशारद, जैन साहित्य शोधक एवं प्राचीन इतिहास तथा पुरातत्त्ववेत्ताओं का सामूहिक प्रकल्प लिया जाना उपयोगी होगा।

□

प्राचीनतम कालगणना की आधुनिकता और वैज्ञानिकता

भारतीय पौराणिक साहित्य में श्रीमद्भागवत का महत्व सर्वविदित है। इस ग्रंथ में कतिपय दार्शनिक एवं वैज्ञानिक अवबोधों को अन्य कथाओं के साथ-साथ, इस सुघड़ता से पिरोया गया है कि व्यास जी के कौशल के समक्ष नतमस्तक होना पड़ता है। एक ऐसा ही महत्त्वपूर्ण अवबोध है 'काल'। श्रीमद्भागवत पुराण में अनेक स्थलों पर इसके संबंध में दार्शनिक एवं वैज्ञानिक मीमांसा विस्तृत रूप से प्रस्तुत की गयी है। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि 'काल' जैसे जटिल तत्त्व के विषय में भी अनेक गुरु-गंभीर विचारों को इतने सरल एवं सरस ढंग से लिख दिया गया है कि सामान्य पाठक अथवा श्रोता कथापट के ताने-बाने में गुंथे उसके अद्भुत सौंदर्य को उसी सहज रूप में ग्रहण करता चलता है मानों वह श्रीकृष्ण की लीला का ही आनंदामृतपान कर रहा हो। यद्यपि काल एवं उसके स्वरूप की दार्शनिक चर्चाओं के उल्लेख श्रीमद्भागवत में अनेक स्थलों पर किये गये हैं, तथापि दो प्रसंग ऐसे हैं जिनके द्वारा काल एवं पदार्थ के सूक्ष्म एवं महान रूप से संबंधित गंभीर जिज्ञासाएं की गयी हैं। इन प्रसंगों के अवलोकन से यह भी विदित होता है कि पौराणिक ग्रन्थों में इन दोनों तत्त्वों की वैज्ञानिक

अवधारणाएं कितने उच्च धरातल को स्पर्श करती हैं। आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों के आलोक में इनका मूल्यांकन संभवतः रोचक लगे।

श्रीमद्भगवत के द्वितीय स्कंध के आठवें अध्याय में राजा परीक्षित ने शुकदेव मुनि से विविध प्रश्न किये हैं। इस अध्याय के बारहवें एवं तेरहवें श्लोक में वे पूछते हैं कि महाकल्प एवं उनके अवांतर कल्प कितने होते हैं? भूत, भविष्य एवं वर्तमान काल का अनुमान कैसे किया जाता है? तथा काल को 'अण्वी' (सूक्ष्म) एवं 'बृहत' (महान) गतियां किस प्रकार जानी जा सकती हैं? इसी प्रकार तृतीय स्कंध के दसवें अध्याय के दसवें श्लोक में विदुर जी मैत्रेय जी से कहते हैं, "आपने श्रीहरि की जिस काल नामक शक्ति का उल्लेख किया था, उसका विस्तार से वर्णन कीजिए।" मैत्रेय ऋषि ने अगले दो श्लोकों में तो इतना ही उत्तर दिया है कि त्रिगुणात्मक पदार्थ का रूपांतर करना ही काल का आकार है, स्वयं तो वह निर्विशेष, अनादि एवं अनंत है। अव्यक्तमूर्ति काल को ही उपादान बनाकर सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु इसी स्कंध के ग्यारहवें अध्याय में मन्वंतरादि काल विभाग का वर्णन करते हुए जिस विस्तार से उन्होंने परमाणु, ब्रह्मांड राशियों, सूक्ष्म एवं परम महान काल को व्याख्यायित किया है, उसे चमत्कारिक ही कहा जायेगा।

इस अध्याय में मैत्रेय जी विदुर जी को बताते हैं कि जो 'काल' पदार्थ की 'परमाणु' जैसी सूक्ष्म अवस्था में व्याप्त रहता है, वह 'अत्यन्त सूक्ष्म' (परमाणु काल) है और जो सृष्टि से प्रलय पर्यंत उसकी सब अवस्थाओं का भोग करता है, वह परम महान है। वे आगे कहते हैं, उसे 'परमाणु' कहते हैं। यह परमाणु जिसका सूक्ष्मतम अंश है, उस पदार्थ की 'समग्रता' का नाम परम महान है। पदार्थ के इस सूक्ष्मतम और महत्तम स्वरूप के सादृश्य से परमाणु आदि अवस्थाओं में व्याप्त होकर पदार्थों को भोगनेवाले सृष्टि करने में समर्थ 'काल की भी 'सूक्ष्मता' और 'स्थूलता' (महानता) का अनुमान किया जा सकता है।

इसके पश्चात् यह बतलाया गया है कि दो 'परमाणु' मिलकर

एक 'अणु' बनाते हैं तथा तीन अणु मिलकर एक 'त्रसरेणु' का निर्माण करते हैं। त्रसरेणु के आकार की कल्पना देते हुए मैत्रेय जी कहते हैं, 'त्रसरेणु' किसी द्वार की झिरी में से आयी हुई सूर्य की किरणों के प्रकाश में उड़ता देखा जा सकता है। ऐसे तीन त्रसरेणुओं का भोग करने में जितना समय लगता है, उसे 'त्रुटि' कहते हैं। इससे सौ गुना काल 'वेध' कहलाता है और तीन वेध का एक 'लव' होता है। तीन लव को एक 'निमेष' एवं तीन निमेष को एक 'क्षण' कहते हैं। पांच क्षण की एक 'काष्ठा' और पंद्रह काष्ठा का एक 'लघु' होता है। पंद्रह लघु की एक 'नाडिका' होती है तथा एक 'मुहूर्त्त' में दो नाडिकाएं होती हैं। मैत्रेय जी यह भी कहते हैं कि दिन के घटने-बढ़ने के अनुसार छः या सात नाडिका का एक 'प्रहर' होता है, जो मनुष्य के दिन या रात का चौथा भाग होता है तथा जिसे 'याम' भी कहते हैं। चार-चार प्रहर के 'दिन' और 'रात' होते हैं और पंद्रह दिन-रात का एक 'पक्ष'। पक्ष दो होते हैं- 'शुक्ल' एवं 'कृष्ण'। दो पक्षों का एक मास होता है, जो पितरों का एक दिन-रात है। दो मास की एक 'ऋतु' तथा छः मास का एक 'अयन' होता है, जिसके 'उत्तरायन' एवं 'दक्षिणायन' दो भेद हैं। दोनों अयन मिलाकर मनुष्यों का एक 'वर्ष', किंतु देवताओं का एक दिन-रात होता है। ऐसे सौ वर्ष की मनुष्य की परमायु बताया गयी है तथा मैत्रेय जी यह भी कहते हैं कि हे विदुर जी, देवताओं के बारह सहस्र वर्ष से एक चतुर्युगी होती है, जिनमें सत्युग में चार, त्रेता में तीन, द्वापर में दो तथा कलियुग में एक सहस्र दिव्य वर्ष होते हैं। जिस युग में जितने सहस्र दिव्य वर्ष, उससे दोगुने सौ वर्ष उसकी संध्या एवं संध्यांशों में होते हैं। इस प्रकार कलियुग में बारह सौ दिव्य वर्ष या चार लाख बत्तीस हजार मानव वर्ष हुआ करते हैं।

ब्रह्मा जी के दिन और रात की चर्चा करते हुए मैत्रेय जी ने कहा है, प्यारे विदुर जी, त्रिलोकी से बाहर महर्लोक से ब्रह्मलोक पर्यंत भूलोक की एक सहस्र चतुर्युगी के बराबर एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी

रात होती है। ब्रह्म जी का एक दिन एक 'कल्प' कहलाता है। ब्रह्मा जी की परमायु ब्रह्मलोक के सौ वर्षों के तुल्य होती है, जिसका आधा भाग परार्ध कहलाता है। अब तक पहला परार्ध व्यतीत हो चुका है। यह दो परार्ध का काल अव्यक्त, अनादि विश्वात्मा का एक निमेष माना जाता है। सामान्य रूप में त्रुटि से लेकर द्विपरार्ध पर्यंत फैला हुआ काल सर्व समर्थ होने पर भी सर्वात्मा पर किसी प्रकार की प्रभुता नहीं रखता।

मैत्रेय जी इतने पर भी संतुष्ट नहीं हुए, वे सृष्टि की विशालता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि प्रकृति महत्त्व आदि से निर्मित यह ब्रह्मांड-कोश भीतर से पचास करोड़ योजन विस्तारवाला है तथा इसके बाहर चारों ओर उत्तरोत्तर दस गुने सात आवरण हैं। उन सबके सहित यह जिसमें परमाणु के समान पड़ा हुआ दिखता है और जिसमें ऐसी करोड़ों ब्रह्मांड राशियां हैं, वही परमात्मा का श्रेष्ठ रूप है। इस प्रकार, भागवतकार के शब्दों में परमाणु से लेकर अपरिमित विस्तारवाली सृष्टि का व्याप तथा त्रुटि से लेकर दो परार्ध जिसका निमेष है, ऐसे परमकाल का स्वरूप पदार्थ एवं काल के संदर्भ में सूक्ष्म एवं परम महान की परिकल्पनाओं का दिग्दर्शन कराता है।

उपरोक्त वर्णन में जहां परमाणु, अणु, त्रसरेणु, ब्रह्मांड राशियां सूक्ष्म काल, महत्वकाल, काल के लोक सापेक्ष या विभिन्न लोकों का समय भिन्न होने जैसे वैज्ञानिक अवबोधों का विवेचन है, कालगणना की युग पद्धति का उल्लेख है, वहां कुछ राशियों के माप भी दिये गये हैं। भागवतकार द्वारा 'त्रुटि' काल का मेय सूक्ष्मतम माप बताया गया है और यदि दिन-रात काम चौबीस घंटे मानकर गणना की जायें, तब त्रुटि का कोटिमान 10^{-4} या 10^{-3} सेकंड के तुल्य उपलब्ध होगा। आधुनिक अत्यंत सुग्राही तकनीकवाले कुछ कैमरों के शटर की गति इसी कोटि की होती है। काल का परार्धमान, जो महत्काल का प्रारंभिक छोर कहा जा सकता है (क्योंकि संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त काल के संदर्भ में परार्ध को एक निमेष मात्र कहा गया है), उस रचना की परम आयु बताया

गयी है, जिसके हम अंग हैं। श्रीमद्भागवत में बताये गये कालमान के अनुसार परार्ध का कोटिमान 10^{+22} सेकंड के सन्निकट होता है। द्रष्टव्य है कि सृष्टि-संबंधी एक आधुनिक सिद्धांत के आधार पर किये गये वैज्ञानिक आकलन से सूर्य का अपेक्षित जीवनकाल 10^{+18} सेकंड के आस-पास अनुमानित है। हम जानते हैं कि सूर्य से ही पृथ्वी पर जीवन है और सूर्य के विनाश के पश्चात पृथ्वी या हमारे अस्तित्व की कल्पना असंभव है। सृष्टि-वैज्ञानिकों के एक दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार तारामंडलों की ऐसी टक्कर, जिसमें हमारे सौरमंडल के सदस्य ग्रह टूटकर बिखर जायें 10^{+15} या 10^{+22} सेकंड में होती है। इस सिद्धांत के अनुसार भी हमारे सौरमंडल का जीवन काल 10^{+15} वर्ष या परार्ध के लगभग है। अतः परार्ध हमारे सौरमंडल के आयुष्य की सीमा का द्योतक है।

इसी प्रकार यदि एक योजन को आठ मील के बराबर मानकर गणना करें, तब ब्रह्मांड कोश का परिमाण लगभग सत्तर करोड़ किलोमीटर अर्थात् 10^{+17} किलोमीटर के सन्निकट होगा। यह भागवतकार के मत में नेत्रगोचर जगत् का आकार है। आधुनिक खगोलशास्त्री हमें बताते हैं कि एंड्रोमीडा नामक नीहारिका, जिसकी मंद संदीप्त बस कठिनाई से कोरी आंखों द्वारा देखी जा सकती है, हमसे लगभग 10^{+18} किलोमीटर दूर है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी मंदाकिनी के नेत्रों से दर्शन संभव नहीं हुए हैं। यह कितना सुखद आश्चर्य है कि दृश्य जगत् के जिस विस्तार का वर्णन श्रीमद्भागवत में किया गया है, वह अधुनातन प्राप्त तथ्यों से काफी मेल खाता है।

श्रीमद्भागवत में पदार्थ के सूक्ष्मतम अंश परमाणु का आकार नहीं बताया गया है। क्योंकि इसे सूक्ष्मतम अंश कहा गया है, अतः इसका और आगे विभाजन संभव नहीं है। सूक्ष्मतम होने के कारण वह इंद्रियातीत या अगोचर है, अतः वह मेय नहीं है। यही कारण है कि परमाणु में व्याप्त काल का मापन संभव नहीं होगा। अतः सूक्ष्मकाल

की मेय सीमा पदार्थ के सूक्ष्मतम नेत्रगोचर आकार में व्याप्त काल की ही मात्रा होगी। व्यासजी ने इस कण को त्रसरेणु के रूप में परिभाषित किया है, पर इसका परिमाण ज्ञात करने का कोई युक्तिसंगत सूत्र पुस्तक में उपलब्ध नहीं होता है। लेकिन यह समझना तो कठिन नहीं है कि भले ही भागवतकार को त्रसरेणु के यथार्थ परिमाण का ज्ञान न हो, पर नेत्रों से देखे जा सकने वाले सूक्ष्मतम कण के रूप में उसने त्रसरेणु की परिकल्पना अवश्य प्रस्तुत की थी और उसने यह भी बताया कि त्रसरेणु की परिकल्पना अवश्य प्रस्तुत की थी और और उसने यह भी बताया कि त्रसरेणु विभिन्न अणुओं के संयोग से बनता है। पदार्थ की आणविक संरचना (मॉलिक्यूलर स्ट्रक्चर) का यह वैज्ञानिक अवबोध अत्यंत महत्वपूर्ण है तथा भागवतकार की पदार्थ संरचना संबंधी वैज्ञानिक दृष्टि का उन्मीलन करता है।

अब हम कालगणना की युगपद्धति अथवा कल्पपद्धति पर भी थोड़ा विचार करें। इस पद्धति का प्रचलन आज भी भारत में है। पूजा, अनुष्ठान या धार्मिक आयोजनों में संकल्प धारण करते समय इसी पद्धति का अनुसरण किया जाता है। मनुस्मृति एवं महाभारत में तो इसका उल्लेख है ही, तैत्तिरीय संहिता एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी चारों युगों के नाम पाये जाते हैं। एतरेय ब्राह्मण की हरिश्चन्द्र एवं रोहिताश्व की वह कथा तो सर्वविदित ही है, जिसमें कहा गया है कि सोनेवाला कलि, बैठनेवाला द्वापर एवं उठनेवाला त्रेता होता है। चलनेवाला होने के कारण कृत संपन्न होता है। अतः हे रोहित, चलते रहो, चलते रहो, ऋग्वेद में भी युगों का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया गया है, यद्यपि यह कहना कठिन है कि उसमें वर्णित युग में इतने ही वर्ष होते थे जितने कि स्मृति ग्रंथों के अनुसार या श्रीमद्भागवत में वर्णित विभिन्न युगों में हैं। अतः यह तो निर्विवाद है कि कालगणना की युगपद्धति अथवा कल्पपद्धति हमारे देश के व्यावहारिक जगत् में बहुप्रचलित एवं सर्वमान्य थी। तब प्रश्न यह उठता है कि मानव के पृथ्वी पर प्रादुर्भाव के इतने पूर्व की

कालगणना का आधार क्या था? कल्पारंभ के समय से ही गणना करना और उसका अभिलेख रखना तो संभव नहीं लगता। सृष्टि के प्रथम दिन का साक्षी कौन है? शायद स्वयं प्रजापति ही हों तो हों, मर्त्य तो कोई हो ही नहीं सकता। कल्पारंभ से गणना करना अथवा उसका हिसाब रखना संभव न हो सकने के कारण युगपद्धति की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिन्ह लगाये जाते हैं, परंतु हमारे देश के गणितज्ञ एवं ज्योतिषी इस पद्धति का उल्लेख दीर्घकाल से करते चले आ रहे हैं।

भारतीय ज्योतिर्विदों (ऐस्ट्रोनॉमर्स) में आर्यभट्ट की ऐतिहासिकता तो निर्विवाद है। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'आर्यभट्टीय' में उन्होंने अपनी जन्म-तिथि का उल्लेख करते हुए कहा है कि "साठ वर्षों की साठ अवधियां तथा युगों के तीन पाद व्यतीत होने पर जन्म के तेईस वर्ष पूरे हो चुके थे।" इसके अनुसार कलियुग के 3600 वर्ष पूरे हो चुकने पर आर्यभट्ट तेईस वर्ष पूरे हो चुके थे।" अतः कम-से-कम आर्यभट्ट के समय तक (421 शाके अथवा 499 ई.) कलियुग के प्रारंभ से कालगणना करने का प्रचलन था। आर्यभट्ट ने यह भी कहा है कि युग, वर्ष, मास, दिवस सभी का प्रारंभ एक ही समय से हुआ है। काल अनंत एवं अनादि है, ग्रहों के आकाश में गमन करने से उसका अनुमान किया जा सकता है। प्राचीन भारतीय ज्योतिष ग्रंथों में एवं पंचांगों में कलियुग के प्रारंभ के समय की ग्रहस्थिति का उल्लेख किया जाता है। उन लोगों को यह मान कैसे प्राप्त हुए? या तो उन्होंने प्रत्यक्ष निरीक्षण (वेध) द्वारा इन स्थितियों को देखा या गणित की सहायता से प्राप्त किया। यह भी जानना रोचक होगा कि ये मान किस सीमा तक शुद्ध हैं? आधुनिक खगोलशास्त्र तो इतना विकसित हो चुका है कि इन तथ्यों की जांच सरलता से की जा सकती है।

ऐसा नहीं है कि इस प्रश्न पर आधुनिक खगोलशास्त्रियों का ध्यान नहीं गया। इस संबंध में जॉन प्लेफेयर एफ.आर.एस. के एडिनबरो रॉयल सोसायटी के ट्रांजेक्शंस सन् 1790 की द्वितीय पुस्तक, खंड एक,

पृष्ठ 135 से 192 में प्रकाशित शोध लेख 'रिमाक्स ऑन द ऐस्ट्रोनोमी ऑफ ब्राहमिंस' द्रष्टव्य है। इस लेख में भारतीय ब्राह्मणों द्वारा प्राप्त कुछ खगोल सारणियों या पंचांगों की विस्तृत समीक्षा की गयी है। जॉन प्लेफेयर महोदय ने अपने लेख में एक फ्रेंच विद्वान द्वारा स्याम (थाइलैंड) से 1687 में लायी गयी एक पांडुलिपि एवं ईसाई मिशनरियों द्वारा भारत से प्रेषित तीन खगोल सारणियों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। ये पंचांग नरसापुर एवं कर्नाटक के कृष्णपुरम् से 1750 ई. में तथा कोरोमंडल तट पर स्थित तिरुवलूर नामक स्थान से 1772 में भेजे गए थे। विद्वान प्रोफेसर का कथन है कि भारतीय खगोलशास्त्र में इतनी परिशुद्धता विद्यमान है, जो इसके उद्गम एवं प्राचीनता संबंधी समस्त शंकाओं का निवारण करने में सक्षम है और इस शास्त्र को किसी भी दृष्टि से (अन्य देशों के) उस प्राचीन ज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, जो मात्र अटकलबाजी या पौराणिक गाथाओं से अधिक कुछ नहीं कहे जा सकते।

इस पांडित्यपूर्ण लेख में विभिन्न खगोलशास्त्रियों के अभिमतों की विस्तारपूर्वक चर्चा करते हुए विद्वान लेखक ने कहा है कि भारतीय ज्योतिष के बारे में विवेचित तर्कों एवं साक्ष्य के आधार पर हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि उन प्रेक्षणों के मान, विशेषकर तिरुवलूर पंचांग में वर्णित कलियुगारंभ की सूर्य एवं चंद्र की स्थिति, जिन पर भारतीय खगोलशास्त्र आधारित है, ईस्वी संवत् से प्रारंभ होने के तीन हजार वर्ष से भी कहीं पहले वास्तविक निरीक्षण (वैध) द्वारा निर्धारित किये गये थे। प्लेफेयर ने यह भी कहा है कि प्राचीन भारतीय खगोलशास्त्र में वर्णित दो तत्त्वों, प्रथम- सूर्य की मध्यम स्थिति साधन करने का संस्कार जिसे आधुनिक खगोलशास्त्र में सूर्य के केन्द्र का समीकरण कहते हैं तथा द्वितीय-क्रातिवृत्त की तिर्यकता की तुलना, जब आधुनिक काल के इन दोनों तत्त्वों से की जाती है, तब वे भारतीय ज्योतिषशास्त्र के और अधिक प्राचीन होने का संकेत करते हैं। और तब

यह स्वीकार करना पड़ता है कि भारत में इस शास्त्र का उद्गम ईसा से कम-से-कम 4300 वर्ष पुराना है, क्योंकि कलियुग के प्रारंभ की ग्रहस्थिति का इतना शुद्ध निर्धारण करने योग्य वेध-कौशल विकसित होने में 1000 या 1200 वर्ष से कम तो क्या लगेंगे। यह एक महत्त्वपूर्ण अभिलेख है, जो भारतीय खगोलशास्त्र की प्राचीनता, वैज्ञानिकता आदि सिद्ध करते हुए कलियुग के प्रारंभ को ज्योतिषशास्त्र के बलवान साक्ष्य के आधार पर निर्धारित करता है। इस प्रकार कलियुगारंभ से कालगणना की वैज्ञानिक संभावनाओं के संकेत तो मिलते हैं, पर कल्परंभ अथवा परार्ध के प्रारंभ से जिस कालगणना का उल्लेख भागवत में किया गया है, उसकी वैज्ञानिकता के विषय में अभी कुछ कह पाना कठिन है। परन्तु प्राचीन भारतीय वाङ्मय में उपलब्ध ज्योतिषीय साक्ष्य के विषय में अधिक अनुशीलन एवं अनुसंधान की आवश्यकता को नकारा नहीं जाना चाहिए। इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाते हुए प्रसिद्ध प्राच्यविद् डॉ. गोविंदचंद्र पांडे ने श्री के.डी. सेठना की पुस्तक 'प्रागैतिहासिक भारत में कपास' की समीक्षा करते हुए लिखा है कि प्राचीन भारतीय साहित्य की रचना का काल-निर्णय करते समय उन ग्रंथों में उपलब्ध ज्योतिषीय साक्ष्य की अकारण ही उपेक्षा कर दी जाती है।

विचारणीय है कि श्रीमद्भागवत का मुख्य विषय गणित, विज्ञान किंवा खगोलशास्त्र नहीं है, उसकी रचना का उद्देश्य तो सर्वमान्य में कर्म, ज्ञान, भक्ति मर्यादामार्ग, अनुग्रहणमार्ग, द्वैत, अद्वैत, अद्वैताद्वैत आदि के लिए समन्वयमूलक दृष्टि विकसित करना प्रतीत होता है। ऐसे ग्रंथों में उच्चस्तरीय वैज्ञानिक अवधारणाओं का समावेश एक नयी जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है। द्रष्टव्य है कि श्रीमद्भागवत का श्रवण किसी वर्ण अथवा लिंग के आधार पर प्रतिबंधित नहीं था। पद्मपुराण में भागवत सप्ताह में आमंत्रित श्रोताओं के बैठने की जो व्यवस्था बतायी है, उसमें सभी वर्णों के लिए बैठने के उचित स्थान का प्रबंध करने का निर्देश दिया गया है। इससे तत्कालीन भारतीय समाज के बौद्धिक स्तर का

अनुमान नहीं लगता? सामान्यतः कोई भी ग्रंथकार सर्वसाधारण के लिए लिखी पुस्तक में ऐसी बातें नहीं लिखेगा, जिन्हें पाठकों अथवा श्रोताओं का बहुसंख्यक वर्ग बिल्कुल ही न समझ पाये। जो भी हो, धर्म एवं विज्ञान का ऐसा समन्वय भारत के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय का इस दृष्टि से भी अनुशीलन आवश्यक है कि उनमें समाविष्ट वैज्ञानिक अवबोधों के आधार पर तत्कालीन समाज की स्थिति का आकलन किया जा सके। इस तथ्य की भी खोज की जानी चाहिए कि कहीं विभिन्न मत-मतांतरों के समन्वय के साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टि का विकास करना भी भागवत के रचनाकार का उद्देश्य तो नहीं था? कुल मिलाकर भागवतकार ने सृष्टि-वैचित्र्य को सरल, सुस्पष्ट एवं सुलझी दृष्टि से देखते हुए उसके जटिल रहस्यों का उन्मीलन करते हुए सर्वजन सुलभ, सरस एवं प्रवाहमान भाषा में काव्यात्मक कौशल के साथ दर्शन, विज्ञान, भक्ति, कर्म एवं ज्ञान के पंचतत्त्वों से एक अद्भुत कथावस्तु का सृजन कर दिखाया है।

□

एक समाज देह का जीवन :

डॉ. हेडगेवार

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के निर्माता डॉ. केशवराव बलिराम हेडगेवार उन विभूतियों में से एक हैं जिनका कर्तृत्व ही उनके व्यक्तित्व की पहचान बन जाया करता है। संघ के नाम एवं काम से सुपरिचित महानुभाव भी उसके निर्माता के जीवनवृत्त से लगभग अपरिचित ही बने रहते यदि डॉ. हेडगेवार की जन्मशताब्दी के संदर्भ में संघ द्वारा आयोजित देशव्यापी विशाल कार्यक्रमों एवं सम्पर्क अभियान के माध्यम से उनकी ओर देश का ध्यान आकृष्ट न हुआ होता। केशवराव का जन्म नववर्ष प्रतिपदा, विक्रमी संवत् 1946, तदनुसार 1 अप्रैल 1889 ईस्वी को नागपुर में बसे एक निर्धन वेदपाठी परिवार में हुआ था। घोर अभाव के बावजूद न तो यह स्वाभिमानी परिवार कहीं याचक बनकर खड़ा हुआ और न ही इसने वेदपाठ की अपनी तेजस्वी परम्परा को तिलांजलि दी। तेरह वर्ष की अल्प आयु में ही केशवराव के माता-पिता का निधन हो गया था। एक तरह से 'क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे' की उक्ति चरितार्थ कर दिखाई श्री केशवराव ने अपने जीवन में अपने ही पुरुषार्थ से।

डॉ. हेडगेवार एक जन्मजात देशभक्त थे। विदेशी शासन के प्रति

रोष उनमें किसी प्रतिक्रिया के कारण नहीं उपजा था, अपितु देश-प्रेम उनकी सहज प्रवृत्ति थी। महारानी विक्टोरिया के राज्यारोहण के साठ वर्ष पूरे होने पर स्कूलों में बंटने वाली मिठाई को आठ वर्ष के बालक केशव ने यह कहकर कूड़ेखाने में फेंक दिया था कि विदेशी शासक के अभिषेक समारोह पर बंटने वाली मिठाई वह नहीं खा सकता। एडवर्ड सप्तम के अभिषेक के समय तो आतिशबाजी देखना तक भी केशवराव ने स्वीकार नहीं किया था। बंग-भंग के विरुद्ध जो आंदोलन सन् 1905 में हुआ था उसमें वंदेमातरम् का मंत्र गूँज उठा था सारे देश में। अंग्रेज सरकार इस आंदोलन को कुचलने के लिए कटिबद्ध थी। केशवराव ने तब किया था नील सिटी स्कूल के छात्रों का नेतृत्व और निरीक्षक के आने पर कर दिया था बारी-बारी से प्रत्येक कक्षा ने समवेत स्वर में वंदेमातरम् का उद्घोष। फिर प्रारंभ हुआ सरकारी दमन-चक्र। केशवराव ने कहा था कि मातृभूमि की जय बोलना कोई अपराध नहीं है, माफी मांगने का कोई सवाल ही नहीं। फलतः वह स्कूल से निकाल दिये गये। उन्हीं दिनों लोकमान्य तिलक द्वारा स्वदेशी उद्योगों की स्थापना के लिए चलाई गई 'पैसा फंड' की योजना के लिए भी किशोर केशव घर-घर जाकर पैसा मांग कर फण्ड इकट्ठा करते थे। ऐसी थी स्वदेशी के प्रति उनकी निष्ठा। आठवीं कक्षा में पढ़ने वाले केशवराव ने विजयादशमी के उत्सव पर किया था एक ओजस्वी भाषण। जानते हैं आप क्या कहा था उस भाषण में। केशव ने कहा था कि रावण जलाने का मतलब है विदेशी शासक को अपनी धरती से मार भगाना। स्वाभाविक रूप से तब अंग्रेज की आंख की किरकिरी बन गया था किशोरावस्था में ही वह प्रखर देशभक्त। पुलिस दिन-रात पीछे पड़ गई और बड़े भाई हो गए अप्रसन्न। लाचार केशव का घर में खाना-पीना भी बंद हो गया। लेकिन क्या बुझ सकी स्वातंत्र्य-प्रेम की अग्निशिखा? नहीं, केशव ने हतोत्साहित होना तो सीखा ही नहीं था, भोजन घर में बंद हो गया तो क्या? सब ही घर तो अपने हैं। चलो, सप्ताह के अलग-अलग दिनों में

अलग-अलग घरों में जाकर भोजन कर लिया जाएगा। पढ़ाई भी पूरी करूंगा, मातृभूमि को परकीय शासन से भी मुक्त करूंगा, ऐसा था वज्र संकल्प उस युवक का।

हाई स्कूल पास करने तक केशवराव ने अपने जीवन का ध्येय सुनिश्चित कर लिया था और अंगीकार कर लिया था उस तरुण ने 'स्व-धर्म' एवं 'स्वदेश' के संरक्षण हेतु 'स्वराज्य' प्राप्ति के लिए सतत संघर्ष का वीरव्रत। उन दिनों देश का वातावरण ब्रिटिश राज के विरुद्ध क्रांति के आवेश से भरा हुआ था। भला केशवराव जैसा संवेदनशील एवं देशभक्त इसकी ऊष्मा से अछूता कैसे रह सकता था! शामिल हो गया था वह भी इन क्रांतिकारी योजनाओं में। इसीलिए तो सन् 1907 में उसने नागपुर के सीताबर्डी किले पर फहराते यूनियन जैक को उतारने के लिए बाहर से सुरंग खोदकर पहुंचने की योजना बनाई थी। और उसी साल छुट्टियां में रामपायली में अपने चाचा के घर जाकर उसने ठीक पुलिस चौकी के पास स्वनिर्मित बम फोड़कर अद्भुत साहस का परिचय दे डाला था। दहल उठी थी पुलिस और झकझोर उठा था सारा प्रशासन। पर जान पाया क्या कोई कि कौन था वह देशभक्त वीर-पुंगव?

तरुण केशवराव की योजना-कुशलता, निर्भीकता, देशभक्ति उनके स्वाभिमान एवं साहस के उदाहरणों की सूची बहुत लम्बी है, उनको लिखकर पृष्ठ रंगना मेरा उद्देश्य नहीं। पर इतना तो लिखना ही होगा कि उन दिनों 'काल' और 'केसरी' जैसे समाचार-पत्रों के आग उगलते लेख, लोकमान्य तिलक के गरजते भाषण, अंग्रेजी साम्राज्य के दमनचक्र और क्रांतिकारियों के आत्मोत्सर्ग का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। और उन्होंने 1910 में प्रवेश लिया था कलकत्ता के नेशनल मेडिकल कॉलेज में। डॉक्टरी पढ़ना तो बस निमित्त मात्र था, असली उद्देश्य तो था बंगाल के क्रांतिकारियों से सम्पर्क साधना और लौटकर विदर्भ क्षेत्र में क्रांति का शंखनाद करना। कलकत्ता में पुलिनबिहारी दास के नेतृत्व में काम कर रही क्रांतिकारी संस्था 'अनुशीलन समिति' के साथ स्थापित हुआ

उनका गहरा संबंध और वे बन गए उसके अंतरंग सदस्य। केशवराव का गुप्त नाम था उन दिनों 'कोकेन'। सशस्त्र क्रांति का कार्य करते हुए केशवराव ने यह जान लिया था कि इस मार्ग की अपनी सीमाएं हैं और भारत जैसे विशाल देश में इसकी सफलता के लिए उपयुक्त परिस्थिति पैदा करना कठिन है। केशवराव जब डॉ. हेडगेवार बनकर लौटे तब तक अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में काफी हलचल शुरू हो गई थी और देश में लोकमान्य तिलक जैसे उग्र नेताओं ने कांग्रेस को राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन का शक्तिशाली मंच बना दिया था। गांधी जी का भी उदय भारत के राजनीतिक क्षितिज पर उन दिनों होने लगा था। डॉक्टर हेडगेवार पूर्ण स्वतंत्रता के हामी थे और वे लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में कांग्रेस में सक्रिय हो गए।

डॉक्टर हेडगेवार 1915 के पांच वर्षों में नागपुर तथा विदर्भ में एक लोकप्रिय जननायक के रूप में उभरे। वे अनवरत प्रयास करते और युवकों में पूर्ण स्वतंत्रता की अग्निशिखा प्रज्वलित करते रहते थे। जहां कहीं भी अवसर मिलता था, वे परतंत्रता के विरुद्ध अत्यन्त उग्र एवं उत्तेजक विचार प्रकट करना न चूकते थे। कांग्रेस में उग्र विचारों का प्रचार करते हुए वे दिन रात घूमने लगे। रोलेट एक्ट एवं जलियांवाला कांड के विरोध में हुए देशव्यापी आंदोलन में उन्होंने बढ़-चढ़कर भाग लिया। उन्हीं दिनों महात्मा गांधी ने खिलाफत आंदोलन को समर्थन देकर देश की राजनीति को नया मोड़ दे दिया। फिर हुआ 1919 में कांग्रेस का अमृतसर अधिवेशन जिसमें डॉ. हेडगेवार सदल-बल पहुंचे थे। इस अधिवेशन में उन्हें कई ऐसे अनुभव आए जिससे वह समझ गए कि अंग्रेज भारत में विघटन और फूट के विष-बीज बोने में सफल हो गया है और गांधी जी की नीति के सुपरिणाम कठिन हैं। अमृतसर में ही कांग्रेस का अगला अधिवेशन नागपुर में करने का फैसला हुआ।

नागपुर अधिवेशन की अध्यक्षता लोकमान्य तिलक करें, यह जनसामान्य की इच्छा थी, परन्तु देव दुर्विपाक से 1920 के अधिवेशन

के पूर्व ही उनका देहावसान हो गया। ऐसे में डॉक्टर हेडगेवार का चिंतित होना स्वाभाविक था। वे चिंतित थे कि राष्ट्रीय पुनर्जागरण की जो पीयूष धारा भारत में स्वामी विवेकानन्द के समय से प्रवाहित हुई थी और जो लोकमान्य तिलक जैसे कर्मयोगियों के भगीरथ प्रयत्नों से देश के कोने-कोने में पहुंच चुकी थी तथा जिसके अमृतस्पर्श से भारत में आत्मगौरव की नवचेतना भी प्रस्फुटित होने लगी थी, कहीं ऐसा न हो कि उचित नेतृत्व के अभाव में वह प्रवाह ही अवरुद्ध हो जाये। वे यह भी समझ रहे थे कि अंग्रेज हर प्रकार से भारतीयों को आत्मविस्मृति की मोहनिद्रा में डालकर अपने गौरवशाली अतीत और पराक्रम एवं पुरुषार्थ के उज्ज्वल इतिहास एवं उदात्त परम्पराओं से काट कर यह प्रचार कर रहा है कि हिन्दुस्तान कभी एक राष्ट्र था ही नहीं और यह भी पढ़ा रहा है भारतवासियों को कि अंग्रेज के हटते ही भारत टूट-बिखर जायेगा। अतः इस समय लोकमान्य के तिरोधान के कारण नव-जागरण की यह धारा वेगवती कैसे बनी रहे, यह अनेक राष्ट्रवादी नेताओं के लिए बन गयी थी एक गंभीर चुनौती। डॉक्टर हेडगेवार ने अपने सहयोगियों से परामर्श किया और वे तथा डॉ. मुंजे पांडिचेरी गए श्री अरविन्द घोष को पुनः सक्रिय करने के लिए। परन्तु आध्यात्मिक साधना के पथ पर अग्रसर हो जाने के बाद श्री अरविन्द ने पुनः सक्रिय राजनीति में आना स्वीकार नहीं किया। इस तरह डॉक्टर हेडगेवार एवं उनके सहयोगियों के जीवन में कांग्रेस का नागपुर अधिवेशन एक मोड़ बनकर आया। उस सम्मेलन की व्यवस्था का भार डॉक्टर हेडगेवार एवं डॉक्टर परांजपे को दिया गया था। इस अधिवेशन के लिए विचारार्थ प्रस्तावों में डॉक्टर हेडगेवार ने दो प्रस्ताव रखवाए थे। उनमें से एक तो था कि 'संपूर्ण स्वतंत्रता ही हमारा उद्देश्य है' और दूसरा था 'हिन्दुस्थान में लोकतंत्र की स्थापना कर पूंजीवादी राष्ट्रों के चंगुल से सारे विश्व को मुक्त कराना ही कांग्रेस का ध्येय है', किन्तु तत्कालीन कांग्रेसी नेतृत्व ने यह विचार मान्य नहीं किए। तो यह थी विचार-सरणी डॉ. हेडगेवार की 1920 में,

जब शायद कोई भी नेता इतने बेबाक ढंग से पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का विरोध नहीं कर पा रहा था। डॉक्टर हेडगेवार समझ गए कि कांग्रेसी नेतृत्व किन सीमाओं के अंदर रहना चाहता है? भविष्य की संभावनाओं पर उनका विचार-मंथन इन्हीं दिनों तीव्र हो उठा।

फिर आया 1921 का असहयोग आंदोलन। डॉक्टर हेडगेवार पकड़े गए और चलाया गया उन पर मुकदमा। मुकदमे के दौरान उन्होंने जो भाषण अदालत में किया उसके लिए न्यायाधीश ने कहा था कि “डॉ. हेडगेवार के मूल भाषण की तुलना में उनका प्रतिवाद कहीं अधिक राजद्रोहपूर्ण है।” जून 1922 में वह कारागार से मुक्त हुए तब नागपुर में इतना भव्य स्वागत हुआ था कि सभा को संबोधित करने आए थे पं. मोतीलाल नेहरू एवं हकीम अजमल खां। डॉक्टर हेडगेवार इसके बाद बनाए गए थे प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सहमंत्री। पर स्वागत समारोहों में रहकर अपने कार्य को भूलने वाले नहीं थे डॉक्टर हेडगेवार। न ही जानते थे वह आंदोलन के ठंडे पड़ जाने से निरुत्साहित होना। जेल से निकलकर वे सतत भ्रमण करते रहे और करते रहे व्यापक जनसम्पर्क। कारावास के अपने अनुभवों और इस सम्पर्क के पश्चात् वे समझ गए कि कांग्रेस का आंदोलन अनुशासनहीनता से ग्रस्त है, बहुत से नेताओं के सार्वजनिक जीवन एवं व्यक्तिगत आचरण में बहुत भारी खाई है। बड़े-बड़े नेता, यहां तक कि महात्मा गांधी भी तुष्टीकरण के मोहजाल में फंस चुके हैं। भारतीय राष्ट्रवाद के यथार्थ को भूलकर वे अल्पसंख्यकवाद के शिकार हो गए थे। इस स्थिति का लाभ उठाकर विघटनवादी तत्त्व अंग्रेजों के हस्तामलक बनकर स्वाधीनता के राष्ट्रीय आंदोलन को दुर्बल बना रहे थे। डॉक्टर हेडगेवार ने यह भी देखा कि एक ओर मोपला उपद्रव हो रहे थे तो दूसरी ओर अपने को हिन्दू कहना भी एक प्रकार का अपराध-बोध बना दिया गया था। गांधी जी ने तो टिप्पणी कर दी थी कि हिन्दू कायर हैं। इस परिस्थिति का कोई सम्यक् निदान उन्हें कहीं दिखाई नहीं दे रहा था। दो-तीन वर्षों तक वे लोग रहे

विचार-मंथन में, इतिहास के आलोड़न-विलोड़न में और दूढ़ते रहे वह उपाय जिसके द्वारा देश को स्वतंत्र कराने के लिए सन्नद्ध भी किया जा सके तथा अलगाववादी तत्त्वों तथा अंग्रेजों के अपवित्र गठबंधन का भी मुकाबला किया जा सके।

डॉक्टर हेडगेवार का निष्कर्ष था कि हिन्दुस्थान का उत्थान और पतन उसके आध्यात्मिक जागरण से जुड़ा हुआ है। हिन्दू मानस को सिर्फ ऐहिक उत्थान के नारे पर संघटित नहीं किया जा सकता। यहां जब-जब आध्यात्मिक चेतना ऊर्ध्वगामी होती है, राष्ट्र का विराट भी जाग्रत रहता है। वह शक्ति एवं सामर्थ्य से परिपूर्ण रहकर अपनी रक्षा में समर्थ होता है। जब यहां अध्यात्म का अवपात होता है, राष्ट्रीय चैतन्य का हास होकर वह अधोगति की तरफ बढ़ने लगता है। इस अर्थ में वे विवेकानन्द और तिलक की विचारधारा के समर्थक पहले से थे ही, अब उन्होंने इतिहास से यह भी देखा कि बुद्ध भगवान् द्वारा जब आध्यात्मिक जागरण हुआ तो विशाल मगध साम्राज्य बना, शंकराचार्य द्वारा वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार के बाद पुनः शक्तिशाली भारत उभरा, माधवाचार्य के उपदेशों के आधार पर ही विजयनगर जैसे शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना हो सकी, समर्थ रामदास की आध्यात्मिक चेतना ही छत्रपति शिवाजी की हिन्दू पद पाद-शाही का उत्स थी और सिखों का अद्भुत शौर्य और पराक्रम और गुरु तेगबहादुर, गुरु गोबिंदसिंह और उनके पुत्रों का बलिदान उपजा था गुरु नानक की वाणी से, और प्रत्येक क्रांतिकारी को प्राणों का मोह छोड़कर आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा मिली भगवद्गीता से। हिन्दुस्थान के पुनर्जागरण में इन दोनों प्रवृत्तियों का समन्वय करना अनिवार्य है। 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' का संतुलित विचार ही जनमानस को स्पंदित कर पाएगा, यह था निष्कर्ष जिसने डॉक्टर हेडगेवार को स्थापित कांग्रेसी राजनीति का पुनर्मूल्यांकन करने की प्रेरणा दी। और तब उन्हें नयी राह सूझ गई।

अपने देश की मूल प्रकृति को समझकर डॉक्टर हेडगेवार ने

उसकी दुरवस्था की मीमांसा भी की। उन्होंने कहा कि जब तक इस देश का विशाल हिन्दू समाज जाति, उपजाति, पंथ, मत-मतांतर, भाषा एवं प्रान्त के अभिनिवेश में बंटा रहेगा तब तक इस देश की स्वतंत्रता एवं अखण्डता की रक्षा असंभव है। एक अविभक्त हिन्दू समाज ही इस देश के सनातन शाश्वत जीवन-मूल्यों की रक्षा कर सकता है। कहा था उन्होंने कि मुसलमान या अंग्रेज हमारे देश के पतन का कारण नहीं हैं, कारण अगर कोई है तो विघटित, विशृंखलित, कालबाह्य रूढ़ियों से ग्रस्त एवं स्वार्थ में न्यस्त हिन्दू इसलिए हिन्दू समाज को संघटित, प्रगतिशील एवं रूढ़िमुक्त बनाना इस राष्ट्र के अस्तित्व के लिए परमावश्यक है। हिन्दू संघटन किसी प्रतिक्रिया के रूप में नहीं अपितु एक ऐसा सामर्थ्यवान मृत्युंजय समाज की पुनर्रचना के लिए जो अपनी रक्षा स्वयं करते हुए विश्व के सभी राष्ट्रों को शोषण से मुक्त करा सके। अतः उन्होंने 1925 की विजयादशमी को मुट्ठीभर तरुणों को बुलाकर एक अभिनव संघटन की नींव रखी और इस संघटन का ही नाम आज राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के रूप में विश्वविख्यात है।

कैसे संभव हो पाया यह सब? तो यह संभव हो सका डॉक्टर हेडगेवार की संघटन-क्षमता से। उन्होंने अभिनव कार्य-पद्धति का आविष्कार किया। उन्होंने समाज से पृथक किसी संघटन की या सेना की रचना नहीं की। उन्होंने समाज में संघटित रहने का भाव निर्माण करने का प्रयास किया। समाज का प्रत्येक घटक राष्ट्र पुरुष की रक्षा एवं सेवा में उसी प्रकार सतत प्रयत्नशील रहे जैसे शरीर का प्रत्येक जीव कोष। और समाज पर होने वाले प्रत्येक आक्रमण से उसके बचाव के लिए उसी प्रकार सन्नद्ध रहे जैसे कि शरीर पर लगे आघात से बचाव के लिए रक्त के कण तुरंत पहुंचकर प्रतिरक्षा करना प्रारंभ कर देते हैं। प्रश्न है कि प्रत्येक व्यक्ति में ऐसी भावना किस प्रकार उत्पन्न की जा सकती है? डॉक्टर हेडगेवार का उत्तर था-यह काम नित्यप्रति संस्कारित करने से ही सम्भव है। जब तक हिन्दू समाज के घटकों का यह सहज

स्वभाव नहीं बन जाता कि वे अपने स्वार्थ के स्थान पर राष्ट्रीय हितों को वरीयता दें तब तक उन्हें इस विचार का सतत स्मरण कराते रहना होगा। और इसके लिए विकसित की उन्होंने शाला पद्धति—एक घंटा नित्य सामूहिक रूप में एकत्रित होकर मातृभूमि के प्रति अपने कर्तव्य का स्मरण करना। उसके लिए मन, बुद्धि और शरीर को संस्कारित करते रहना। समूचे समाज के साथ एकात्म होकर सहोदरवत् व्यवहार करने का आभास इसी सामान्य—सी प्रक्रिया में से विकसित होकर स्वभाव बन गया संघ के स्वयंसेवकों का।

तभी तो जब महात्मा गांधी 1934 में सेवाग्राम में लगे संघ के शिविर में पधारे तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उस शिविर में कोई किसी की जाति नहीं जानता, पूछता भी नहीं। सब एक पंक्ति में भोजन कर रहे थे और सभी भोजन परस रहे थे। ब्राह्मण, मराठा, दर्जी, चर्मकार का भेद वहां नहीं था। बस एक ही भावना दिखी बापू को कि वे पंद्रह सौ स्वयंसेवक जो अपने खर्चे से अपनी गणवेश (यूनिफॉर्म) बनवाकर और अपने किराये से वहां आए थे और भोजन का शुल्क भी स्वयं ही दे रहे थे, वे आपस में एक ही रिश्ता मानते हैं—हिन्दुत्व का। कहा था महात्मा गांधी ने भाव—विभोर होकर, “अस्पृश्यता को नष्ट करना तो बहुत कठिन है, पर डॉक्टर, तुमने इस कठिन कार्य को संभव कर दिखाया।” डॉक्टर हेडगेवार ने यह काम केवल सामूहिक संस्कार के द्वारा कर दिखाया था। उन्होंने न बहस की, न ही किसी को बाध्य किया, न ही किसी को तिरस्कृत। बस एक ऐसा सामूहिक वातावरण बना दिया अपने व्यवहार से कि जिसमें जाति—पाति सब भूलकर सहोदर भाव का निर्माण हो गया। हां, समाज का प्रत्येक व्यक्ति मेरा भाई ही है।

यही कारण है कि आज, जब पंजाब में भारी हिंसा जारी है, वहां साम्प्रदायिक तनाव पैदा नहीं हुआ। डॉक्टर हेडगेवार के अनुयायियों ने हर कीमत पर यही कहा कि सिख हिन्दू समाज का अविभाज्य अंग हैं। वर्षों से चला आ रहा रोटी—बेटी का नाता, एक—सी आस्थाएं और

विश्वास किसी भी कीमत पर टूटने नहीं दिए जाएंगे। वे बलिदान होने को तैयार हैं पर रक्तपात करने को हरगिज नहीं। भाईचारे का यही वह आधार है जो पंजाब में अलगाववाद के विरुद्ध प्रतिरक्षा कर रहा है। कहा था श्री बरनाला ने जब वे कृषि एवं सिंचाई मंत्री थे केन्द्र की सरकार में। तब दिल्ली में बाढ़ आयी और वे चले गए रात में जमुना के किनारे बांध की दशा देखने। वहां उन्हें कुछ नवयुवक मिले जो बांध की रक्षा कर रहे थे। उनसे पूछा कि आप लोग कौन हैं और क्या कर रहे हैं इतनी रात को यहां। श्री बरनाला को सुनकर आश्चर्य हुआ कि वे लोग संघ के कार्यकर्ता थे और यह सुनकर कि बांध पर सहायता कार्य की आवश्यकता है वे वहां आए थे तथा और लोग भी पहुंचने वाले थे। कहा था उन्होंने कि संघ मुसीबत में बिना बुलाए भी मदद करने वाले लोगों का समूह है। यह भी बताया था उन्होंने चण्डीगढ़ की उस सभा में कि जब वे जेल से छूटकर आए थे तो दिल्ली के सैकड़ों सिख परिवारों ने उनसे कहा कि नवंबर 1984 की उस विभीषिका में अगर हम बच सके तो संघ के स्वयंसेवकों के सहयोग से।

डॉ. हेडगेवार अजातशत्रु थे। वे दलीय प्रतिस्पर्धा एवं संस्थाभिनवेश से मुक्त थे। यही कारण था कि कांग्रेस छोड़ देने के बाद भी जब कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता का लक्ष्य स्वीकार किया था तब उन्होंने इस प्रस्ताव का स्वागत किया था। वे प्रत्येक राष्ट्रीय भावना वाले नेता का आदर करते थे और उन्हें संघ कार्य की प्रगति से अवगत कराते रहते थे। पं. मदनमोहन मालवीय, ज्ञानकोश के निर्माता श्रीधर केतकर, विट्ठलभाई पटेल, नाटककार खाडिलकर, बैरिस्टर सावरकर, जमनालाल बजाज प्रभृति महानुभावों को वे स्वयं संघ स्थान पर लाए। इसी सबका यह परिणाम था कि जब मध्य प्रदेश शासन ने सन् 1934 में सरकारी कर्मचारियों के संघ में जाने पर पाबन्दी लगाई तब विधान सभा में सरकारी सदस्यों ने ही उसका ऐसा विरोध किया कि वह आदेश वापस करना पड़ा।

जिस दिन से संघ की स्थापना हुई उस दिन से मरणोपर्यन्त डॉ.

हेडगेवार ने अपने जीवन का प्रत्येक क्षण और ऊर्जा का प्रत्येक कण इस संघटन के विस्तार के लिए अर्पित कर दिया। छोटी-से-छोटी बात की तरफ उनका ध्यान बना रहता था और अपने सहयोगियों को सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र सेवा में अर्पित करने की प्रेरणा उनसे मिलती रहती थी। उनकी विशेषता यह थी कि वे बस एक कदम आगे नजर आते थे। नेता और अनुयायियों के बीच अंतर का अनुभव उनके किसी सहयोगी को नहीं हुआ। अतः बहुत से युवक उनके आदेश पर सर्वस्व त्याग करके देश-सेवा के लिए आ जुटे। डॉक्टर हेडगेवार ने अत्यन्त निर्धन होते हुए भी अपने लिए संघटन से कभी कुछ लिया नहीं। उन्हीं के पद-चिन्हों पर चलकर संघ के कार्यकर्ता संघ से लेते नहीं, परिवार मानकर उसे देते ही हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ऐसा संघटन है जहां राष्ट्र-सेवा न खरीदी जाती है, न बेची।

आज जब देश में कई पुरुषों की शताब्दियों के समारोह आयोजित हो रहे हैं, उनमें सबसे अनूठा उपक्रम डॉ. हेडगेवार की शताब्दी का है। सरकारी स्तर पर वह आयोजन नहीं है पर वह सबसे अधिक व्यापक अवश्य है। देश का कोई गांव शायद ही बचा हो जहां उस दधीचि का पुण्य स्मरण कराने वाला कोई स्वयंसेवक न गया हो। और वे लाखों लोग जिन्होंने उन्हें कभी देखा भी नहीं, वे उनके प्रति एकान्तिक निष्ठा के साथ कार्यक्रमों को सफल बना रहे हैं। हमने देखा है कि पूज्य बापू के अनुयायियों ने उनकी शताब्दी कैसे मनाई थी? हमने देखा है कि विश्व के कई परम प्रतापी शासकों को उनके अनुयायियों द्वारा तिरस्कृत किया जाना, परन्तु यहां एक ऐसे महापुरुष को भी हम जानें कि जिसके निकटतम सहयोगी उसकी मृत्यु के लगभग पचास वर्ष पश्चात् भी उतनी ही श्रद्धा से स्मरण कर रहे हैं या शायद उससे भी अधिक भक्ति से उसका कीर्तन कर रहे हैं जितनी कि वे उसके जीवनकाल में करते थे।

और आज भी जब कभी राष्ट्र पर कोई दुर्दिन आता है तो संघ

उस संकट की घड़ी में सबसे आगे रहता है। लिखा है प्रोफेसर ए.एन. बवाली ने अपनी पुस्तक 'नाऊ इट केन दी टोल्ड' में कि किस तरह संघ के स्वयंसेवकों ने अपनी जान पर खेलकर सन् 1947 में विभाजन के दिनों में लोगों की जान बचाई। लिखा उन्होंने कि "जब सबने उन लोगों का साथ छोड़ दिया था, अकेले संघ ने ही उनका साथ दिया। फिर चाहे काश्मीर पर आक्रमण के समय स्वयंसेवकों की भूमिका रही हो, या सन् '65 व '71 के युद्ध के दिनों में, या सन् '75 में आपात्काल के विरुद्ध संघर्ष रहा हो, या मोरनी में बाढ़ राहत हो या आंध्र प्रदेश के दिवि तालुक में हुए ध्वंस का पुनर्निर्माण हो, डॉक्टर हेडगेवार अगणित स्वयंसेवकों के रूप में विद्यमान हैं। सारे अपप्रचार को पीकर विरोधियों की सारी कटुता और विरोध के बावजूद संघ डॉक्टर हेडगेवार के मार्ग पर चलकर राष्ट्र देव की सेवा में तल्लीन रहता है, यह संभवतः एक चमत्कार ही है।

हिन्दू समाज के सबसे उपेक्षित एवं पिछड़े अंग की सेवा के लिए डॉक्टर हेडगेवार की शताब्दी का वर्ष समर्पित है। यह समर्पित है राष्ट्र की अखण्डता एवं अस्मिता के लिए। यह समर्पित है एकात्मता के लिए, राष्ट्रीय स्वाभिमान के लिए। यह समर्पित है अपने राष्ट्र को परम वैभव तक पहुंचने के वज्र संकल्प के लिए और यह समर्पित है विश्वास को संत्रास एवं शोषण से मुक्त कराने के लिए। डॉ. हेडगेवार आओ, तुम्हें प्रणाम करें क्योंकि तुमने इस देश को रचनात्मक विधायक, हिन्दू दृष्टिकोण प्रदान किया। तुमने हिन्दू को उसका कर्तव्य-बोध कराया और उसे विश्व-रंगमंच पर सशक्त भूमिका निभाने के लिए संकल्पवान बनाया।

□

राष्ट्रीय भविष्य के स्वप्न-द्रष्टा डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी

प्रथम लोकसभा में सदन के नेता थे पं. जवाहरलाल नेहरू, वहां प्रतिपक्ष के प्रवक्ता थे डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी। यद्यपि डॉ. मुखर्जी वैधानिक दृष्टि से विरोधी दल के नेता पद पर निर्वाचित नहीं हुए थे, फिर भी व्यावहारिक रूप में वे ही प्रतिपक्ष की भावनाओं को स्वर देकर सरकार की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश रखते थे। जब एक बार आवेश में आकर पं. जवाहरलाल ने प्रतिपक्ष को कुचल देने की धमकी दी थी, तब डॉ. मुखर्जी ने दूसरों को कुचलने की इस दूषित मनोवृत्ति को ही कुचल देने की आवाज उठाकर प्रधानमंत्री को हतप्रभ कर दिया था। सच तो यह है कि देश जितनी गंभीरता से जवाहरलाल नेहरू को सुनता था, उतनी ही गंभीरता से श्यामाप्रसाद मुखर्जी की वाणी को सुनने व समझने में लगा था। कुछ लोगों की राय में डॉ. मुखर्जी की वाणी को जो सम्मान एवं प्रतिष्ठा संसद एवं उसके बाहर प्राप्त हुई, उसका कारण यह था कि वे स्वतंत्र भारत की प्रथम मंत्रिपरिषद् की सदस्यता से त्यागपत्र देकर प्रतिपक्ष का नेतृत्व करने वाले सर्वप्रथम भारतीय राजनेता थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन के विविध क्षेत्रों में प्रथम रहना डॉ. मुखर्जी की नियति थी। बी.ए., एम.ए. एवं कानून की परीक्षाओं

में वे सदा प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम रहे ही, किन्तु मात्र तैंतीस वर्ष की छोटी-सी आयु में कलकत्ता विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर चुने जाकर उन्होंने एक नया कीर्तिमान स्थापित कर दिया। इतनी कम उम्र में वाइस चांसलर बनने वाले वे सर्वप्रथम भारतीय तो थे ही, विश्व में भी संभवतः कोई ऐसा उदाहरण मुश्किल से ही मिलेगा। शिक्षाविदों द्वारा ऐसा सम्मान किसी बुद्धिजीवी के लिए दुर्लभ है।

जहां तक मुझे स्मरण है वे बंगाल में राज्य सरकार के सदस्य रहते हुए भी बिहार में सुरक्षा अधिनियमों के अंतर्गत पकड़े जाने वाले सर्वप्रथम मंत्री थे। नेहरू-लियाकत समझौते के विरुद्ध केंद्रीय मंत्रिपरिषद् से सबसे पहले त्यागपत्र देने वाले राजनेता भी वही थे। कांग्रेस और कम्युनिस्टों के अतिरिक्त अन्य दलों के सांसदों को एक साथ लाने और संसद में राष्ट्रीय लोकतांत्रिक पार्टी की स्थापना की परिकल्पना प्रस्तुत करने में भी पहल उन्होंने ही की थी। भारतीय जनसंघ के प्रथम अध्यक्ष के रूप में भारतीय संविधान की मर्यादा एवं राष्ट्रीय एकरूपता की रक्षा-हेतु कश्मीर को भारतीय गणराज्य के अविच्छिन्न अंग के रूप में बनाये रखने के प्रश्न पर आत्माहुति देने वाले सर्वप्रथम राष्ट्रीय नेता भी वही थे। सच तो यह है कि जब कभी भी भारतीय राजनेताओं की विरुदावली का गाना होगा, तब उसमें डॉ. मुखर्जी का बयान प्रथम पंक्तियों में ही किया जाएगा। वे कुछ राजनेता जिनका चरित्र आज भी प्रासंगिक है और वर्तमान भारतीय संदर्भ में जिनकी प्रासंगिकता और भी अधिक अनुभव की जा रही है, उनमें डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी का स्थान मूर्धन्य रहेगा।

डॉ. मुखर्जी ने राजनीति में कुछ निष्ठाओं और सिद्धांतों के आधार पर पदार्पण किया था। उन्होंने अपने राजनीतिक व्यक्तित्व को उन निष्ठाओं के प्रति सदा समर्पित रखा, जिनके लिए वे प्रतिबद्ध थे। वह 1929 में कांग्रेस के टिकट पर बंगाल की काउंसिल में चुने गए थे। पर शीघ्र ही उन्हें यह अनुभव होने लगा कि सैद्धांतिक आधार पर उनकी पटरी कांग्रेस से नहीं बैठ सकेगी। उन्नीस सौ तीस के असेम्बली

बहिष्कार के फैसले के बाद उन्होंने भी काउंसिल से त्यागपत्र दे दिया और साथ ही कांग्रेसी टिकट को भी सदा के लिए नमस्कार कर लिया। इसके बाद जब वे पुनः असेम्बली में पहुंचे तो निर्दलीय सदस्य की हैसियत से ही चुनकर गए थे। इस बीच उन्होंने अंग्रेजों की दुरभिसंधि को भांप लिया था और बंगाल में मुस्लिम लीग के क्रिया-कलापों को भी नजदीक से देख-समझ लिया था। वे यह भी समय गए थे कि कांग्रेस की तुष्टीकरण की नीति के घातक दुष्परिणाम होंगे। बंगाल में उन दिनों राष्ट्रवाद की लहर व्याप्त थी और 'मॉडर्न रिव्यू' के संस्थापक रामानन्द चटर्जी जैसे बुद्धिजीवी हिन्दू महासभा का समर्थन कर रहे थे। डॉ. मुखर्जी भी हिन्दू महासभा के कार्यकलापों में भाग लेने लगे और शीघ्र ही उसके अखिल भारतीय कार्यकारी अध्यक्ष बना दिए गए।

हिन्दू महासभा के कार्यकारी अध्यक्ष रहते हुए भी डॉ. मुखर्जी को बंगाल में बनी द्वितीय प्रगतिशील साझा सरकार (प्रोग्रेसिव कोलाइजन गवर्नमेंट) में सम्मिलित होने का निमंत्रण श्री फजलुल हक द्वारा दिया गया। उन्होंने दिसम्बर, 1949 में बंगाल के वित्त मंत्री का पद-भार संभाला। पर सत्ता या पद का मोह उन्हें स्पर्श तक नहीं कर सका। जब भी सत्ता एवं सिद्धांत का द्वंद्व उभरा, डॉ. मुखर्जी अनासक्त भाव से सत्ता त्यागकर सिद्धांतों की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गए। सर्वप्रथम तो मंत्री बनने के कुछ ही समय बाद उन्हें अग्नि-परीक्षा देनी पड़ी और बिहार सरकार से मोर्चा लेना पड़ा। हुआ यों कि हिन्दू महासभा ने 1942 का अपना वार्षिक अधिवेशन भागलपुर में आयोजित करने का निश्चय किया था। सारी तैयारियों हो चुकी थीं। पर उसी समय बिहार सरकार ने सांप्रदायिक तनाव बढ़ने का बहाना बनाकर उस अधिवेशन के आयोजन पर प्रतिबंध लगा दिया।

डॉ. मुखर्जी हिन्दू महासभा के कार्यकारी अध्यक्ष थे और बंगाल सरकार के वित्तमंत्री भी। पर वे बिना किसी हिचकिचाहट के बिहार सरकार की निषेधाज्ञा का उल्लंघन करके भागलपुर जा पहुंचे, जहां

उन्हें भारत सुरक्षा नियमों के अंतर्गत बंदी बना लिया गया। एक प्रांत की मंत्रिपरिषद् के सदस्य को दूसरे प्रांत की सरकार द्वारा भारत सुरक्षा नियमों की धाराओं के तहत कारावास में डाले जाने की यह बेमिसाल घटना है। बंगाल का वित्तमंत्री पद डॉ. मुखर्जी को हिन्दू महासभा के अध्यक्ष के नाते उनके कर्तव्य-पालन से रोक नहीं सका। उन्होंने प्रोटोकॉल की भी परवाह न की और न ही इस बात की कि उनके इस आचरण के परिणामस्वरूप उनका मंत्री-पद छीना जा सकता है। उन्होंने यह भी नहीं सोचा कि इस घटना से बिहार एवं बंगाल सरकारों को कितनी उलझन या परेशानी का सामना करना पड़ सकता है। वे तो इतना जानते थे कि जिस संस्था के वे अध्यक्ष हैं उसका अधिवेशन कोई रोक नहीं सकता। इतना ही नहीं, जब फजलुल हक सरकार ने मिदिनापुर में 1942 के आंदोलनकारियों पर गोली-वर्षा की तब डॉक्टर मुखर्जी ने इस अमानवीय कृत्य का डटकर विरोध किया। इस घटना से उन्हें इतना क्षोभ हुआ कि उन्होंने वित्तमंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया।

गवर्नर को भेजे अपने त्यागपत्र में उन्होंने लिखा था—“कानून तोड़ने वाले गंभीर अपराधियों के विरुद्ध सरकार की विधि-सम्मत कार्यवाही के विषय में तो शायद कुछ नहीं कहा जा सकता, पर मिदिनापुर में जिस प्रकार बर्बरतापूर्ण दमन-चक्र चलाया गया वह तो ब्रिटिश संवाद एजेंसियों द्वारा प्रसारित जर्मन सेनाओं द्वारा अधिकृत क्षेत्रों में किये गए लोमहर्षक अमानुषिक अत्याचारों के सदृश है...।”

डॉ. मुखर्जी ने फजलुल हक सरकार में शामिल होते समय सोचा था कि शायद मंत्रि परिषद् में उनकी मौजूदगी से बंगाल को मुस्लिम लीगी उग्र सांप्रदायिकता में जलने से बचाया जा सकेगा। पर जब उन्होंने देखा कि सरकार मुस्लिम लीग के इन कुकृत्यों को रोकने में असमर्थ सिद्ध हो रही है, तब वे क्षणमात्र विलंब किये बगैर सरकार से त्यागपत्र देकर अलग हट गए। अंग्रेज सरकार द्वारा बंगाल पर थोपे गए अकाल की विभीषिका से उनका संवेदनशील हृदय द्रवित हो उठा और उन्होंने

अकालपीड़ितों की सहायता के कार्य को संगठित रूप दिया। डॉ. मुखर्जी न केवल राजनीतिक आंदोलनों में ही अग्रणी रहे, किन्तु उन्होंने प्रत्येक मानवीय समस्या के निवारण के लिए अपने को समर्पित रखा।

भारतीय स्वाधीनता एवं राष्ट्रीय हित डॉ. मुखर्जी की दृष्टि से सदा सर्वोपरि रहे। वे मुस्लिम लीग की भारत-विभाजन की मांग के प्रबल विरोधी थे। जब बंगाल में मुस्लिम लीग ने नरमेध प्रारंभ किया, तब डॉ. मुखर्जी ने इसका डटकर मुकाबला किया। जब उन्हें यह पता चला कि कांग्रेसी नेता भारत का विभाजन स्वीकार करने जा रहे हैं तो उन्होंने एक तरफ तो विभाजन के विरुद्ध प्रबल जनमत जाग्रत करने का कार्य किया, दूसरी तरफ यह तैयारी भी रखी कि अगर विभाजन सिर पर आ ही पड़ा तब बंगाल एवं पंजाब के अधिक-से-अधिक भाग भारत में कैसे बचाये रखे जाएं। सच पूछा जाय तो यह डॉ. मुखर्जी की ही सूझ-बूझ का परिणाम था कि मुस्लिम-बहुल होते हुए भी समूचा बंगाल एवं पंजाब पाकिस्तान को नहीं मिल सका। राजनीतिशास्त्र के व्याख्याकारों का कथन है कि जिन्ना ने भारत का बंटवारा किया, पर डॉ. मुखर्जी ने तो पाकिस्तान का बंटवारा करवा दिया। निष्ठाओं के लिए समर्पित जीवन से ही ऐसे पुण्य-कार्य संभव होते हैं। भारत की अखंडता के प्रति डॉ. मुखर्जी की अनन्य आस्था थी। वे मातृभूमि को खंडित होते देख नहीं सकते थे। पर विभाजन रोक पाना भी शक्य नहीं था। तब उन्होंने अकेले दम पर वह कर दिखाया जो अन्य किसी के लिए संभव नहीं था। स्थिति तो ऐसी हो गयी थी कि इस फार्मूले के विषय में तो हिन्दू महासभा ने भी उनका साथ एक तरफ से छोड़ ही दिया था। व्यावहारिक राजनीतिज्ञ के नाते डॉ. मुखर्जी का यह अभूतपूर्व योगदान था कि उन्होंने संपूर्ण पंजाब एवं बंगाल को पाकिस्तान का हिस्सा बनने से बचा लिया।

15 अगस्त, 1947 को भारत का विभाजन हुआ और नयी दिल्ली में पं. नेहरू के प्रधानमंत्रित्व में नयी सरकार का गठन हुआ। इसमें भी डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी को केबिनेट स्तर का मंत्री बनाया गया और

उद्योग और आपूर्ति मंत्रालय का कार्य सौंपा गया। उन्होंने अपने मंत्रालय का कार्य जिस योग्यता से संपादित किया, उसकी प्रशंसा तो तब ही होने लगी थी, पर महत्व की बात यह है कि वे कैबिनेट में भी पं. नेहरू के अंध समर्थक नहीं रहे। विचारधारा के नाते वे सरदार पटेल के अधिक निकट समझे जाते थे। डॉ. मुखर्जी की राजनीतिक सूझ-बूझ एवं आदर्शों तथा निष्ठाओं के बारे में स्वच्छ एवं पारदर्शी दृष्टि का एक और उदाहरण है कि उन्होंने देश की स्वाधीनता के पश्चात् हिन्दू महासभा को राजनीति से ऊपर होकर हिन्दुओं की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक समस्याओं के उचित समाधान के लिए कार्य करने की सलाह दी थी। जिस पार्टी के वे वर्षों तक अध्यक्ष रहे, जिसके कारण उन्हें राजनीतिक प्रतिष्ठा मिली, समय आने पर उसे राष्ट्रहित में विसर्जित हो जाने की सलाह देना मामूली साहस का काम नहीं है।

डॉ. मुखर्जी को स्पष्ट रूप से यह आभास हो गया था कि स्वाधीन भारत में राजनीति का रूप बदलेगा और हिन्दू महासभा उस प्रक्रिया में अपने पांव मजबूती से टिकाए नहीं रख सकेगी, यह संस्था काल बाह्य होने की दिशा में बढ़ रही है, अतः समय रहते इसे अपनी सीमाएं और संभावनाएं समझ लेनी चाहिए। डॉ. मुखर्जी वैचारिक पाखंड से कोसों दूर थे। जो उन्हें उचित जंचता था, उसे बेलौस कह सकने की प्रामाणिकता उनमें थी। कुछ लोगों का विचार है कि संभवतः केन्द्रीय मंत्री बन जाने के कारण डॉ. मुखर्जी ने अपने विचार बदल लिये थे। पर यह तथ्यों के सर्वथा विपरीत है। वे उस मिट्टी के बने ही नहीं थे जो स्वार्थजीविता के लिए निष्ठाओं से समझौता कर ले। बदली हुई परिस्थितियों में एक दूरदर्शी नेता के नाते जो उन्हें ठीक लगा, उसे ही उन्होंने अभिव्यक्त किया था। भावी घटनाओं ने उनके चरित्र की उज्वलता को और अधिक उजागर कर दिखाया।

□

पं. दीनदयाल : व्यक्ति और विचार

पंडित दीनदयाल एक व्यक्ति मात्र नहीं थे। व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अद्भुत समन्वय यदि कहीं देखना हो तो उनका जीवन उसका जाज्वल्यमान प्रतीक था। दर्शन एवं वर्तन, विचार एवं आचार, वृत्ति एवं कृति में यदि कहीं अभेद और संगीत का साक्षात्कार करना हो तो स्वर्गीय पं. दीनदयालजी के जीवन-चरित्र से अधिक उत्तम उदाहरण ढूँढना संभव न होगा। विशेषकर जब आज के युग में राजनीतिज्ञों के आचरण एवं तात्त्विक आदर्शों में भारी विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर हो रही है, तब तो उन जैसे कर्मयोगी का पुण्य स्मरण और भी आवश्यक है।

11 फरवरी, 1968 को उनका पार्थिव शरीर मुगलसराय स्टेशन के वार्ड में पड़ा पाया गया। विधाता के उस क्रूर प्रहार से भारतीय राजनीतिक क्षितिज का प्रकाशमान नक्षत्र अस्त हो गया। किन्तु उसकी चिन्ता से निकले स्फुल्लिंग राष्ट्र-प्रेम की ज्वाला बनकर दिग्दिगन्त को प्रकाश एवं तेज से चिरकाल तक परिपूर्ण करते रहेंगे।

प्रायः दीनदयाल जी का स्मरण उनकी कर्म-साधना के संदर्भ में किया जाता है। अखंड कर्म-साधक के रूप में वे अहर्निश प्रवास में रहते थे। और उसी तपश्चर्या के पुण्य फल के रूप में भारतीय जनसंघ का विस्तार भारत के कोने-कोने में संभव हो सका। उनकी सरलता, सादगी, सौम्य एवं मृदु छवि, एक शांत एवं तटस्थ दार्शनिक वृत्ति की

छाप आज भी उनके हजारों अनुयायियों की स्मृति-मंजूषा में सुरक्षित है। वे अच्छे अर्थों में वीतराग थे और अपरिग्रह की तो साक्षात् मूर्ति ही थे। वे अद्भुत लोकसंग्रही एवं संघटनशास्त्र के पारंगत थे। किन्तु इस सबके साथ वे मूर्धन्य विचारक भी थे। भारतीय जीवन का उन्होंने जैसा साक्षात्कार किया था वह उन्हें विश्व के महानतम विचारकों की श्रेणी में स्थापित कर देता है। राजनीति एवं अध्यात्म का जो अपूर्व एवं जीवनदायी समन्वय उन्होंने प्रस्तुत किया वह उनकी पारदर्शी दृष्टि, स्फटिक निर्मल बुद्धि एवं प्रखर राष्ट्रभक्ति की पावन त्रिवेणी का प्रवाह बनकर लाखों हृदयों को सिक्त कर गया।

मैं जब छात्र था, तभी से दीनदयाल जी के साथ मेरा संबंध था। उन दिनों भी हम उन्हें पंडित जी कहा करते थे। जहां तक मुझे स्मरण है, जब से मैं इलाहाबाद में रहता हूँ, तब से जब कभी पंडित जी इलाहाबाद आये, शायद एकाध अवसर पर वे कहीं और ठहरे हों, सामान्यतः वे मेरे ही घर पर ठहरा करते थे। इसलिए उनके सामान्य जीवन के विषय में काफी कुछ ज्ञान मुझे है। बहुत ही सादे व्यक्ति, देखकर यह अनुभव नहीं होता था कि इतने गंभीर विचारक होंगे। इतना महान् राजनीतिज्ञ, इतना बड़ा तत्त्वदर्शी और इतना अधिक सादा! यह कई बार हुआ कि रिक्शा पर बैठे हुए पंडित जी चले आ रहे हैं सवेरे 9 बजे; कोई सूचना नहीं; घर पर आयेंगे, स्नान करेंगे और कहेंगे-भई जल्दी से मुझको उड़द की दाल और दही में चीनी डालकर भोजन तैयार कराओ। उन दिनों मैं अविवाहित था, और जब तक मैं कहीं से घूमघाम कर वापस आऊँ, तब तक पंडित जी तो रिक्शा पर बैठकर स्टेशन चले भी जाते थे।

उन दिनों प्रायः यह हो जाया करता था कि पंडित जी को लाने-ले जाने के लिए मोटरकार का प्रबंध करने में विलम्ब हो जाता तो “नहीं, कोई आवश्यकता नहीं, तुम्हारे पास मोटर साइकिल है, इसी पर चलेंगे” कहते हुए वे मेरी मोटर साइकिल पर जा विराजते थे। 1962 के आम चुनावों में तो यह कई बार हुआ कि उनकी सभा का समय हो रहा है

और जो कार्यकर्ता उनके लिए मोटर का प्रबंध करने गये हैं उन्हें आने में विलम्ब हो गया है, तो “चलो, मोटर साइकिल से ही चलते हैं। जहां रास्ते में मोटर मिलेगी, वहां उसको ले लेंगे।” आठ-आठ, दस-दस, बारह-बारह मील देहात में भी वे मोटर साइकिल पर मेरे साथ बैठकर चले जाते थे। भारतीय जनसंघ के वे उस समय महामंत्री थे, पर अपने व्यवहार से कभी यह अनुभव होने ही नहीं दिया कि वे इतनी बड़ी संस्था के महामंत्री हैं। एक बिल्कुल छोटी-सी मोटर साइकिल पर पीछे बैठकर बहुत बड़ी सार्वजनिक सभाओं में भाषण करने के लिए जा रहे हैं। ऐसा निश्छल व्यवहार कि कहीं किसी प्रकार की कोई ग्रन्थि नहीं। उनके कपड़ों और अन्य वस्तुओं के बारे में तो जितना कहा जाय, वह उतना ही मजेदार है। उन्हें देखकर कोई यह पता नहीं लगा सकता था कि इस प्रकार के बिल्कुल सादी ग्रामीण वेशभूषा वाले व्यक्ति पं. दीनदयाल उपाध्याय हैं। वे सही अर्थ में वीतराग थे और यही कारण था कि उनकी आकृति और उनके चेहरे से लोग परिचित नहीं थे। लोग पं. दीनदयाल जी के विचार से परिचित थे, भारतीय जनसंघ से परिचित थे, जनसंघ के अनेक नेताओं से परिचित थे, किन्तु दीनदयाल जी को देखकर उनको पहचानने में लोगों को कुछ कठिनाई होती थी। एक घटना तो स्वयं उन्होंने ही सुनायी। दिल्ली स्टेशन पर एक कार्यकर्ता महोदय के एक और मित्र भी आ गये। दीनदयाल जी की ओर संकेत करके कार्यकर्ता बंधु ने अपने मित्र से कहा, “क्या तुम इन्हें पहचानते हो?” उत्तर मिल, “नहीं।” “अरे, ये भारतीय जनसंघ के इतने बड़े नेता हैं, तुम इन्हें पहचानते भी नहीं? ये ही तो हैं श्री अटल बिहारी वाजपेयी।” दीनदयाल जी से वे सज्जन इस प्रकार बात कर रहे थे कि मानो उनके साथ बहुत घनिष्ठ परिचय है। किन्तु नाम याद आया उनको, तो अटल बिहारी वाजपेयी का। दीनदयाल जी को नाम, अपनी सार्वजनिक प्रसिद्धि से कोई मोह नहीं था, इसकी उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। वे स्वयं बहुत आनन्द लेकर उस घटना को सुनाते थे। कहने का तात्पर्य यह

है कि प्रसिद्धिपराङ्मुखता, प्रसिद्धि से कोई लाभ नहीं—यह वृत्ति उनमें कूट-कूटकर भरी थी। देश में यह स्थिति है कि राजनीतिक पुरुष यह नित्य देखता है कि मेरी प्रसिद्धि आज कितनी हुई है? आज समाचारपत्र में कितनी बार मेरा नाम छपा है? जहां ऐसा राजनीतिक वायुमंडल हो कि नाम प्रतिदिन छपना ही चाहिए, वहां एक ऐसा व्यक्ति, जो इस बात से भी बिल्कुल निरपेक्ष, तटस्थ रहता हो, प्रसिद्धि के लिए आग्रह तो दूर की बात, बल्कि उससे एक प्रकार की वितृष्णा रखे, आश्चर्य ही कहा जायेगा। कई बार मैं कहता था कि पंडित जी, आप सभा में जा रहे हैं, यह आपका जो कुर्ता है, जरा इसको दीजिए, इस पर मैं प्रेस करवा दूं, तो कहते थे कि लोग मेरी बात सुनने आ रहे हैं या मेरा कुर्ता देखने आ रहे हैं? और प्रायः यह होता था कि जब जाड़ा समाप्त हुआ तो अपनी शाल और अपना गर्म कुर्ता किसी एक कार्यकर्ता के घर छोड़ दिया और कहा कि मेरी वह धोती जो पिछले वर्ष छोड़ गया था, जो बहुधा फटी हुई थी, वह कहां है? फिर गर्मी समाप्त हुई तो कभी पहुंच गये कि वह शाल कहां है? सामान इतना कम कि एक छोटी अटैची भी उनकी पूरी भरती नहीं थी। अपरिग्रह वृत्ति का एक साधक—अहर्निश भ्रमण करने वाला, देश के कोने-कोने में जाने वाला—हर प्रान्त के हर नगर में घूमते-घूमते अनेक गांवों के कार्यकर्ताओं के घर ही मानो उनके अपने घर बन गये थे।

वे आते थे, लोग कहते थे “पंडित जी आ गये”, यानी बिल्कुल एक अपने घर का ऐसा व्यक्ति जो हम सबका मार्गदर्शन करने वाला; हम सबकी चिन्ता करने वाला, हमारा अपना, वह घर में आ गया। जिन लोगों के साथ वे ठहरते थे, उनके साथ ऐसा तादात्म्य उनका था। कालीकट अधिवेशन के लिए भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष के रूप में जाते समय जिस डिब्बे में वे थे, उसी में मैं भी था। दिल्ली से लेकर कालीकट तक ‘जय-जय दीनदयाल’ की ध्वनि प्रत्येक स्टेशन पर होती थी। स्थान-स्थान पर कार्यकर्ता रात को एक बजे भी पहुंचते थे, मालाओं से उनको लादने

की चेष्टा करते थे, परन्तु दीनदयाल जी पर मैंने उसका तनिक भी प्रभाव नहीं देखा। जिस समय कालीकट अधिवेशन से वे लौटकर लखनऊ स्टेशन पर आये तो वहां एक कार्यकर्ता मिले। वह कार्यकर्ता बाद में उत्तर प्रदेश के मंत्रि-परिषद के एक सदस्य भी बनें। पंडित जी उनसे कहने लगे-मौलिक अधिकारों के विषय में आपने जो सुझाव दिया था, उसका मैंने अपने अध्यक्षीय भाषण में समावेश कर दिया है। और समाचारपत्रों के जितने भी संवाददाता आये हुए थे, उनको मिलते हुए कहने लगे कि देखिए ये हमारे इलाहाबाद हाईकोर्ट के वकील हैं और इन्होंने ही यह महत्वपूर्ण सुझाव मुझे दिया था। ऊपरी तौर पर यह बहुत छोटी-सी बात थी, शायद वे कार्यकर्ता भी भूल गये थे कि उन्होंने कभी पंडित जी को ऐसी बात बतायी भी थी, किन्तु दीनदयाल जी के लिए यह महत्वपूर्ण था कि यदि किसी व्यक्ति ने कोई अच्छी बात बतायी तो उसके प्रति कृतज्ञता का भाव रखना चाहिए। यह भाव सामान्यतः आजकल देखने को नहीं मिलता। ऐसी अनेक घटनाएं हैं जो उनकी अहंकार-शून्यता का परिचय देती हैं। जीवन में इतनी विनम्रता कि दीनदयाल जी कभी-कभी दीनता की साक्षात् प्रतिमूर्ति ही बने दिखायी देते थे।

स्टेशन पर कभी उन्हें ढूंढने जाइए और यदि आपने उन्हें पहले देखा न हो तो यह जानना कठिन होता था कि दीनदयाल जी कहां मिलेंगे। आवश्यक नहीं कि वे प्रथम श्रेणी के डिब्बे में ही आपको मिलें। यह हो सकता था कि वे जाड़ों में रात को टू टायर में या बिना आरक्षित डिब्बे में भी कहीं बिल्कुल गठरी-सी बने हुए रजाई के अंदर बैठे हुए मिल जाएं और आप बहुत आवाज दें तब पता लगे कि दीनदयाल जी इस डिब्बे में एक गठरी में से प्रकट हो रहे हैं।

वे सामान्य भारतीय की भांति विदेश गये। कहने लगे कि मैं तो वहां पगड़ी बांधूंगा। “क्यों? ठंड होती है इसलिए?” “नहीं, बल्कि इसलिए कि एक सामान्य भारतीय कृषक पगड़ी बांधता है इसलिए मैं भी वही पहनूंगा।” पंडित जी का भारतीय नागरिक के साथ इस सीमा

तक तादात्म्य था। अनेक घटनाएं हैं इस प्रकार की, जो उनके जीवन के इन्द्रधनुष का वर्ण स्पष्ट करती हैं हर क्षेत्र में।

बुद्धि के क्षेत्र में तो मुझे भोपाल अधिवेशन में एक नया अनुभव मिला। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर को दीनदयाल जी का भाषण सुनाने के लिए मैं ले गया। भाषण सुनकर लौटे तो वह कहने लगे, “डॉ. जोशी, यह आदमी आदमी कहां है? यह तो बुद्धि है साक्षात्। इसमें मुझे शरीर नजर नहीं आता, ऊपर से नीचे तक केवल बुद्धि-ही-बुद्धि है और कुछ है ही नहीं।” मैंने कहा-अभी तक तो आपने केवल उनके बहिरंग का ही स्पर्श किया है और आगे जो ‘तत्त्व’ नाम की वस्तु है, केवल वह तत्त्व-ही-तत्त्व भरा है, वह बुद्धि से भी परे है। उनकी बुद्धि की प्रगल्भता, विद्वत्ता, उनका अध्ययन विषय का प्रतिपादन करने के उनके निराले ढंग में प्रकट होती थी। उनकी अपनी एक विशेष शैली थी। वैसे तो वे प्रकृति से, मेरे विचार में, अध्यापक थे। वे अध्यापन-कार्य करते होते तो निश्चय ही आज भारत के सर्वाधिक सफल अध्यापकों में उनका नाम रहा होता। कठिन-से-कठिन विषय को सरल शब्दों में, और ऐसे सहज भाव में जटिल-से-जटिल विचार वे समझा देते थे कि सामान्य व्यक्ति भी उसे अच्छी तरह समझ जाता था। बड़े-से-बड़े अधिवेशन में, आठ-आठ, दस-दस हजार कार्यकर्ताओं के समूह में, उलझे-से-उलझे विषय को जहां पंडित दीनदयाल जी ने स्पर्श किया, ऐसा लगता था मानो विषय निर्मल हो गया, स्फटिक भी भाँति स्वच्छ हो गया, इसमें कहीं कोई उलझाव नहीं रहा, कहीं कोई जटिलता नहीं रही। लोग कहते थे-अरे, यह तो एक बिल्कुल सरल बात है, इतनी-सी सीधी बात हम पहले क्यों नहीं समझ पाये, वाह! मेरे विचार से ऐसा तभी संभव होता है, जब व्यक्ति विचार के साथ अत्यन्त गहरा तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। जब उसमें और विचार में कोई अन्तर नहीं रह जाता, तब वह उस तात्त्विक मीमांसा के हर पहलू को, उसके हर पक्ष को बड़ी सरलता के साथ, सबके सामने स्पष्ट कर सकता है।

दीनदयाल जी पार्थिव रूप से अवश्य चले गये हैं, किन्तु विचार के रूप में वे अमर हैं। सामान्यतः लोग समझते हैं कि दीनदयाल जी ने किसी राजनीतिक दल के लिए एक विचारधारा दी। मैं ऐसा समझता हूँ कि यह मूल्यांकन उनको बहुत सतही तौर पर देखना होगा। भारतीय जनसंघ के प्रारम्भ में ही डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने कहा था—“यदि मुझे दो दीनदयाल मिल जाएं तो मैं इस सारे भारतीय राजनीतिक रंगमंच का नक्शा बदल दूँ।” ऐसी थी उनकी कर्म-साधना। पंडित जी का कर्तृत्व तो बहुत विशाल था, किन्तु इससे भी अधिक व्यापक था उनका जीवन-दर्शन। ‘एकात्म मानववाद’ के रूप में एक समग्र जीवन-दर्शन जगत को दीनदयाल जी की अद्भुत देन है।

एकात्म मानववाद कोई एक नारे के रूप में विकसित नहीं किया गया था। यह कोई ऐसा नारा नहीं था कि ‘धन और धरती बंट के रहेगी’, या ‘कमाने वाला खायेगा’, इस प्रकार की कोई बात नहीं है। यह समूचे मानव-समाज का एकात्म रूप में दर्शन करने का एक अभिनव प्रयास है।

मानव-समाज क्या है? क्या यह मनुष्यों का समूह मात्र है? कुछ व्यक्तियों की केवल एक भीड़ है? दैवयोग से कुछ लोग एक साथ आ गये किसी ट्रेन के डिब्बे में या होटल में, या किसी बाजार में या किसी प्रदर्शन में, तो क्या ऐसे मनुष्यों के एकीकरण को समाज की संज्ञा दी जा सकती है? या समाज की कोई निश्चित पहचान होनी चाहिए? दीनदयाल जी ने यह बताया कि मानव-समाज का एक सावयव जीवमान तत्त्व है, इसे आप केवल जड़ में नहीं देख सकते, वरन् जैसे मानव-शरीर को आप एक जीवमान रूप में देखते हैं, सावयव रूप में देखते हैं, मानव-समाज को भी हमें उसी रूप में देखना चाहिए। यह कितनी अटपटी-सी बात है कि यदि हम किसी से पूछें कि क्या आप ‘समाजवादी’ हैं और वह उत्तर दे कि ‘नहीं’, तो तत्काल यह समझ लिया जायेगा कि बस यह तो ‘पूंजीवादी’ है, और यदि कोई ‘पूंजीवादी’ होने से इनकार कर दे तो सामान्यतः यह समझा जायेगा कि वह ‘समाजवादी’ है। प्रश्न है कि क्या

इन दो के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं हो सकता? एकात्म मानववाद मानव-समाज को केवल दो ध्रुवों के बीच में या दो विचारधाराओं के बीच में ही बांट देने का समर्थन नहीं है। सारे समाज को एक भिन्न दृष्टि से देखने के कारण एकात्म मानववाद समाज-रचना का एक अत्यन्त गतिशील प्रतिमान प्रस्तुत करना है।

वस्तुतः हुआ यह था कि बहुत पहले हमारे देश के अनेक मूर्धन्य नेताओं का सम्पर्क यूरोपीय राजनीतिक आंदोलनों से हुआ। ऐतिहासिक कारणों से, वे राजनीतिक आंदोलन दो रूपों में विकसित हुए थे। फ्रांस की राज्यक्रांति के पश्चात् जो समूचे पश्चिमी जगत् में 'स्वतंत्रता', 'समता' और 'बंधुता' के विचार चले, उनमें 'स्वतंत्रता' पर आग्रह करने के कारण जनतंत्र और फिर केवल स्वतंत्रता के बारे में अधिक आग्रह के परिणाम-स्वरूप आर्थिक क्षेत्र में शोषण की भी स्वतंत्रता को मान्य करने वाले पूंजीवाद का भी विकास हो गया। समाज का ऐसा प्रतिमान (मॉडल) विकसित हो गया, जिसमें 'समता' या 'बंधुता' तो बिल्कुल नकार दी गयी और केवल स्वतंत्रता के नाम पर अबाधित, अमर्यादित, उच्छृंखल स्वतंत्रता का जन्मा हुआ। वह प्रतिमान आज भी विश्व के कुछ देशों में है।

दूसरी ओर केवल 'समता' पर बहुत अधिक आग्रह करने से 'स्वतंत्रता' और 'बंधुता' आंखों से ओझल कर दी गयीं। और फिर, समता में से समान वितरण, उत्पादन-प्रणालियों पर शासकीय एकाधिकार और अंततोगत्वा राजकीय तानाशाही का जन्म हो गया। किन्तु इन दोनों ने ही 'बंधुता' नामक तत्त्व को आंखों से पूरी तरह ओझल कर दिया इसलिए सारे पश्चिमी जगत् में प्रधान रूप से केवल दो ही विचारधाराएं पनप सकीं और परिणामतः एक ओर 'जनतंत्रवादी-पूंजीवादी' और दूसरी ओर 'समाजवादी तानाशाही' समाज-रचनाएं विकसित होती चली गयीं।

दीनदयाल जी के अनुसार इन दोनों से भिन्न एक ऐसा विकल्प भी हो सकता है जो व्यक्तियों को केवल राजनीतिक प्राणी या

केवल आर्थिक प्राणी न मानकर तथा समाज को केवल किसी विशेष उत्पादन-प्रणाली का पिष्ट-प्रेषण करने वाला जनसमूह न मानकर, इसको एक जीवमान संकल्पना के रूप में ग्रहण करता है। इसलिए उन्होंने व्यक्ति और समष्टि के बीच में जो संबंध होना चाहिए, उसको भारतीय पृष्ठभूमि में परिभाषित करने का प्रयत्न किया। व्यक्ति क्या है? यदि पश्चिम के विचारकों से पूछा जाये तो उनके यहां कालक्रम से 'व्यक्ति' की भिन्न-भिन्न परिभाषा की गयी है। किसी ने कहा कि व्यक्ति तो मात्र शरीर है और इसलिए यह शारीरिक एषणाओं का पुंज है। यदि आपने किसी प्रकार से भी इनकी संतुष्टि कर दी तो व्यक्ति सुखी हो जाता है। और समाज क्या है? तो उत्तर मिलेगा कि वह विभिन्न व्यक्तियों में अपनी शारीरिक एषणाओं को पूरा करने के लिए एक समझौता मात्र है। साथ आना और मिलना और फिर उसके बाद एक विशेष आर्थिक प्रणाली का जन्म लेना-यही बस समाज-जीवन है, इसके आगे है ही क्या? स्पष्ट है कि यह समाज-व्यवस्था का एकांगी प्रतिमान (मॉडल) है। कहीं विचारकों ने यह कहा कि 'व्यक्ति' मात्र एक धार्मिक अस्तित्व है, यह तो धार्मिक विचारों से अनुप्राणित होता है। संभवतः इससे कुछ कठमुल्लापन का, धार्मिक अंधविश्वासों का, मतांधता का एक विशेष दुराग्रह निर्मित हुआ और उसने भी विश्व में विनाश किया। कुछ ने कहा कि नहीं, व्यक्ति तो एक राजनीतिक अस्तित्व है, इसकी कुछ विशिष्ट राजनीतिक आकांक्षाएं हैं, उनकी पूर्ति के लिए ही विभिन्न समाजों का उदय होता है इत्यादि-इत्यादि और साम्राज्यवाद उसमें से पैदा होता है।

भिन्न-भिन्न प्रकार से 'व्यक्ति' को परिभाषित करने के कारण, उसकी किसी एकांगी प्रवृत्ति को ही समग्र व्यक्ति मान लेने के कारण, अनेक प्रकार के विचार देखने में आते हैं।

फ्रायड ने भी एक प्रकार के 'व्यक्ति' को सामने रखा, उसने मानव की अधिकांश क्रियाओं और कार्य-व्यापारों का उद्गम उसकी ग्रंथियों के साथ जोड़ा और कहा कि व्यक्ति में जो वासनाएं हैं, उनसे ही वह

अनुप्राणित होता है और वे ही उसे प्रेरित करती हैं। उसकी जो भी भावनाएं हैं, जो भी उसके अंदर प्रेरणाएं हैं, उन सबका उद्गम व्यक्ति के यौन-व्यवहार पर निर्भर है। फ्रायड ने व्यक्ति के इस रूप पर ही बल दिया।

कहीं-कहीं 'व्यक्ति' एक आर्थिक प्राणी के रूप में ही समझा गया। तब व्यक्ति और समाज का परस्पर संबंध उत्पादन-प्रणाली के आधार पर ही समझने का प्रयत्न किया गया। तो, तरह-तरह से व्यक्ति को परिभाषित करने के प्रयत्न किये गये और उन पर आधारित अनेक राजनीतिक-आर्थिक दर्शन प्रस्तुत किये गये। पर वे सभी अधूरे हैं। अब जिस प्रकार पश्चिम में जीवन-दर्शन उत्पन्न हुए हैं, जिस प्रकार एक संस्कृति का जन्म वहां हुआ है तो क्या वही एकमात्र संस्कृति है जो मानव-जीवन के लिए कल्याणकारी है, या उसके कुछ विकल्प भी हो सकते हैं? दीनदयालजी ने वैज्ञानिक एवं दार्शनिक आधार पर एक विकल्प हमारे सामने प्रस्तुत किया। इससे पहले कि वे इस विचार के प्रत्येक पक्ष को अपनी भाषा में, अपनी वाणी में, अपनी रीति से लोकप्रिय बना पाये होते, वे काल के क्रूर प्रहार से असमय ही हमारे बीच से चले गये। आज आवश्यकता है कि हम उस एकात्म मानववाद के सभी पक्षों पर विचार करें, उस पर गहराई से चिंतन करें और यह देखें कि किस प्रकार वह आधुनिक परिप्रेक्ष्य में एक जीवन्त दर्शन के रूप में मानवीय समस्याओं का निराकरण कर सकता है।

एकात्म मानववाद के अनुसार, व्यक्ति केवल शरीर नहीं है, बल्कि भारतीय विचारकों के तारतम्य में व्यक्ति शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का सम्मूचय है। क्योंकि समष्टि व्यक्तियों से मिलकर बनती है, इसलिए उसमें भी इन तत्त्वों का किसी-न-किसी रूप में दर्शन होना चाहिए। इसलिए समष्टि के लिए भी देश, जन, संस्कृति और चिति की आवश्यकता है। व्यष्टि-समष्टि-संबंधों की इस व्याख्या में चिति को ठीक से समझना महत्वपूर्ण है।

समाज-रचना के संबंध में दीनदयाल जी की चिति की अवधारणा

एक श्रेष्ठ देन है। स्थूल रूप में यदि आप कहें तो जैसे व्यक्ति का एक आत्मा है, वैसे ही समाज का भी कोई आत्मा है, उसमें भी कोई चैतन्य भाव है और इस चिति का प्रकटीकरण, इसका सम्यक् रूप से अनुभव ही किसी समाज को स्वस्थ एवं गतिमान बनाता है। यह चिति ही उसका विराट रूप प्रदर्शित करती है, यही समाज को ठीक प्रकार से संचालित कर सकती है, उसके ताप को ठीक प्रकार से नियंत्रित कर सकती है और समाज की समाज रूप में अपनी स्थिति बनाये रखने में समर्थ करती है। जैसे आत्मा एक भावात्मक संबोध है, वैसे ही चिति भी एक भावनात्मक संबोध है। उसको आप यदि स्थूल रूप में पकड़ना चाहें, मुट्ठी में बंद करना चाहें, तो कठिन होगा। किन्तु बिना आत्मा के मनुष्य की कल्पना भारतवर्ष में करना तो कठिन है। इसी प्रकार समाज की भी चिति का, चैतन्य तत्त्व का, समाज के रूप में रहने की इस नैसर्गिक इच्छा का अनुभव करना ही संभव होगा, किन्तु उसको पकड़कर किसी एक स्थूल रूप में दिखा पाना कठिन होगा। दीनदयाल जी का यह विश्लेषण था कि इस सामाजिक चेतना को, इस चैतन्य को यदि समाज में नहीं बनाये रखा जाता तो समाज अपनी सारी मूल प्रकृति को खो बैठता। अतएव व्यष्टि का नैसर्गिक संबंध परस्पर सहयोग का है। व्यक्ति के आत्मा और समाज की सामूहिक चेतना का साक्षात्कार ही सच्चा जीवन-दर्शन प्रदान करेगा।

कई बार हम लोग उनसे पूछते रहते थे कि पंडित जी, संस्कृति क्या होती है? वे बड़े ही सरल ढंग से समझा देते थे, कि “भई देखो, प्रकृति तो बिल्कुल बोधगम्य है। मनुष्य को भूख लगती है—यह उसकी प्रकृति है। दूसरे के साथ बांटकर खाना चाहिए—यह इस भूख लगने वाली नैसर्गिक प्रकृति का एक विकास है—मानवीय समाज को स्वस्थ रखने के लिए, इसको ठीक रखने के लिए; यही संस्कृति है। दूसरे से छीनकर खा जाओ, यह विकृति है। यदि व्यक्ति अपने आत्मा और विश्वात्मा का अनुभव करता है तो वह संस्कृति की ओर स्वभावतः ही चल पड़ता है।” इसलिए पंडित जी कहते थे कि व्यष्टि और समष्टि का सम्यक्

संबंध होना चाहिए। व्यक्ति यदि सूक्ष्म है तो समष्टि विराट् है। व्यक्ति यदि बृंद है तो समष्टि सागर है।

शिक्षा के बारे में वे यह बताते थे कि भई, शिक्षा वह प्रणाली है, वह प्रक्रिया है, जिससे कोई समाज अपने सदस्यों को अपने अनुरूप ढालता है। इसलिए शिक्षा व्यक्ति और समष्टि का संबंध जोड़ने वाला प्रमुख तत्त्व है। शिक्षा वह प्रक्रिया है जिससे समष्टि अपने आपको पुनरुत्पादित करती है, अपने लिए योग्य नागरिक बनाती है और नागरिक शिक्षित होकर अपने समाज के लिए उपयोगी बनने की चेष्टा करता है तथा आवश्यकतानुसार उत्तम समाज का निर्माण भी करता है। शिक्षा के बाद वह कर्म करता है, इसलिए वह कर्म ऐसा होना चाहिए कि व्यक्ति के प्रति उस समाज ने शिक्षा का अभी तक जो दायित्व निभाया है, उसका प्रतिफल समाज को दे सके। अर्थात् समाज ऐसी शिक्षा व्यक्ति को दे कि वह व्यक्ति उसके लिए उपयोगी इकाई बन सके और जब व्यक्ति कर्म करेगा तो कर्मफल के रूप में उसको मिलना चाहिए।

और फिर, जैसे कि व्यक्ति कर्म भी करता है, कर्मफल भी मिलता है तो उसको यज्ञ करना चाहिए। यह भारतीय संस्कृति का एक तत्त्व है। समाज का हम फिर से भंडार भरें, फिर से कुछ ऐसा त्याग करें कि समाज के स्रोत सूखें नहीं और शिक्षा, कर्म एवं कर्मफल के लिए निरंतर प्रयत्नशील, समृद्ध समाज बनाता रहे-उसके लिए यज्ञ करना चाहिए और फिर वे हंसी-मजाक में कहते थे, अन्ततः आज की जो कराधान-प्रणाली है, वह क्या है? यह भी तो यज्ञ का रूप है। जो मैंने कमाया, उसका एक अंश मैं समाज के लिए दे रहा हूँ। इस कराधान को क्यों नहीं आप आजकल यज्ञ के रूप में स्वीकार करते? जैसे यज्ञ एक पवित्र कार्य माना जाता है, ऐसे ही समाज को अंश प्रदान करना, समाज के स्रोतों को भरते जाना, अपनी आय में से एक अंश समाज के लिए बराबर, विधिवत देते जाना-यह यज्ञ की भावना से होना चाहिए। इसलिए कर-वंचना नहीं होनी चाहिए। समाज-रचना की व्यवस्था करने

वाले इस प्रकार के प्रतिमान हम बनायें।

वे प्रायः कहते थे कि प्राणायाम की आवश्यकता पड़ती है शरीर के हर अंग में पोषक 'ऑक्सीजन' पहुंचाने के लिए। जीवन के लिए जो सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व है-प्राणवायु, वह यदि आप शरीर के हर जीवकोश (सेल) में पहुंचाना चाहते हैं तो उसके लिए आपको प्राणायाम करना पड़ता है। उसी प्रकार से भौतिक क्रिया-कलापों के लिए पोषक तत्त्व 'अर्थ' है (जिसमें उत्पादन और उपभोग दोनों ही सम्मिलित हैं), अतः समाज को अर्थायाम करना चाहिए।

प्राणायाम है नियंत्रित श्वास लेना, उसको क्षणिक रोकना और फिर उसका निश्वास; अर्थात् ऑक्सीजन लेना, रक्त के प्रत्येक कण तक पहुंचाना और दूषित वायु को बाहर निकालना। निरन्तर इस बात का प्रयत्न करना कि यह पोषण प्रत्येक जीवकोश में पहुंचता रहे। तो जैसे व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए यह प्राणायाम आवश्यक है, वैसे ही समाज के स्वास्थ्य के लिए 'अर्थायाम' आवश्यक है। यह स्वाभाविक है कि जैसे आप केवल सांस खींचकर ही बहुत देर तक नहीं बैठे रह सकते (समाधिवालों की बात छोड़ दीजिए, सामान्य व्यक्ति के लिए सांस रोककर बैठना कठिन है), वैसे ही आप अर्थ को एक स्थान पर जकड़कर नहीं बैठ सकते। यदि रक्त कहीं शरीर के कोने में जा कर जमने लग जाये तो थक्के बनने लगते हैं, जीवन के लिए खतरा बन जाता है। इसी प्रकार यदि अर्थ एक ही व्यक्ति के पास बहुत अधिक मात्रा में संचित हो जाय तो यह भी सामाजिक स्वास्थ्य के लिए प्रदूषण पैदा करता है, अवरोध उत्पन्न करता है। प्राणायाम की भांति अर्थायाम सामाजिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है और इसमें से फिर उपभोग पर संयम, उत्पादन कैसा और उपभोग कितना और किस सीमा तक, ये सारे सिद्धांत बिल्कुल स्वाभाविक रूप में प्राप्त होते चलते हैं।

इस प्रकार हम देखते कि एकात्म मानववाद किसी एक विशेष राजनीतिक नारे में नहीं बंधा है, यह विचार मानव और मानव-समाज की

मूल प्रकृति के विश्लेषण पर आधारित है। मनुष्य की चार मोटी विधाएं मन, बुद्धि, शरीर और आत्मा-भारत में अभी तक सर्वमान्य हैं (महर्षि अरविन्द के सिद्धांत के अनुसार यदि कभी अति मानव का प्रादुर्भाव हुआ तो किसी अन्य विधा को भी हम देख सकेंगे, तब शायद बात भले ही बदल जाये) और जब तक ये चार तत्त्व सर्वमान्य हैं, तब तक ऐसा समग्र चिन्तन, जिसमें व्यक्ति माने मन, बुद्धि, शरीर और आत्मा तथा समाज माने देश, जन, संस्कृति और चिति, जिसमें व्यष्टि और समष्टि के सम्यक् संबंध शिक्षा, कर्म, कर्मफल और यज्ञ द्वारा परिभाषित हैं जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चारों पुरुषार्थों का विचार है, एक स्वस्थ समाज-रचना के लिए जीवन-दर्शन एवं विचार-दर्शन के रूप में हमारे सामने उपस्थित है। इस एकात्म मानववाद का हम गहराई से अनुशीलन करें। इसके आलोक में अच्छे, स्वस्थ, समतामूलक समाज का निर्माण करें।

पंडित जी कहा करते थे कि केवल नारेबाजी से कोई काम नहीं चलेगा। जिस दिन तक उस मानव को, जो ऐसे क्षेत्रों में रहता है जहां आज प्रकाश नहीं है, जहां दरिद्रता और दैन्य का साम्राज्य है, जहां उसके पांव की बिंवाई फटी हुई है, जिसे जूता पहनने के लिए प्राप्त नहीं है, जिसे रोग होने पर औषधि नहीं है, उस निरक्षर, निरुत्साही और किंकर्तव्यविमूढ़ मानव को जब हम एक स्वस्थ और सुन्दर समाज का दर्शन करा सकेंगे-समय जहां अचल खड़ा है, वहां उसे जब हम गति दे सकेंगे, उस समय तक प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को, संवेदनशील व्यक्ति को ऐसे समाज के निर्माण के लिए सतत् कार्यरत रहना चाहिए। उसके कार्यों का जो भी कुछ उपास्य है, वह वही दरिद्रनारायण, वही पीड़ित, वही शोषित मानव है, उसके उद्धार के लिए भी उत्तम प्रकार की समाज-रचना विकसित की जानी चाहिए। मैं समझता हूं कि इस तत्त्व को समझने के लिए और अच्छी, स्वस्थ, सबल, योग्य समाज-रचना के लिए एकात्म मानववाद का अनुशीलन, उस पर विचार-विमर्श करना ही शायद उनके प्रति सबसे महत्वपूर्ण श्रद्धांजलि होगी।